नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(त्रैमासिक)





वर्ष ५३—अंक १ [नवीन संस्करण] सं० २००५

वैशाख-आषाढ़

विषय-सूची

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

'पत्रिका' के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार ।

२—हिंदी-साहित्य के विविध अंगों का विवेचन ।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान ।

४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन ।

संपादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

सहायक

बटेकृष्ण

मूल्य प्रति अंक २॥)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(त्रैमासिक)



र्ष ५३—अंक २ [नवीन संस्करण] सं० २००५

श्रावण-आश्विन

विषय-सूची

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

'पत्रिका' के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।
२—हिंदी-साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।
३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।
४—प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

संपादक
विश्वनाथप्रसाद मिश्र
सहायक
बटेकृष्ण

मूल्य प्रति अंक २॥)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५३—अंक १ [नवीन संस्करण] वैशाख-आषाढ़—सं० २००५

रंगवल्ली कला का इतिहास

(सन् ५० ई० से १९०० ई० तक)

श्री परशुराम कृष्ण गोडे एम० ए०

इस निबंध में मैं भारत के कुछ भागों में[1] त्योहार, आनंदोत्सव आदि के अवसरों पर *रंगीन चूर्णों द्वारा भूमि (फर्श) पर चित्रकारी करने की प्रचलित कला* के किन्हीं संदर्भों का उल्लेख करना चाहता हूँ। इस कला का प्रयोग स्त्रियाँ करती हैं। कुछ हिंदू मंदिरों में इस कला का प्रदर्शन कभी कभी त्योहारों के अवसरों पर होता है। इसकी सम्यक् ऐतिहासिक परंपरा चित्रित करने के लिये संस्कृत तथा अन्य ग्रंथों के आधार पर इस प्रचलित तथा प्रसिद्ध कला का इतिहास-निर्माण आवश्यक है। महाराष्ट्र में इस कला को *रांगोली* शब्द से अभिहित करते हैं। श्री यशवंत रामकृष्ण दाते तथा श्री चिंतामण गणेश कर्वे द्वारा निर्मित 'शब्द-कोश' नामक मराठी कोश में इस शब्द का अर्थ निम्नलिखित रूप में दिया गया है—

"रांगोली, रांगवली" = भोज आदि के अवसरों पर देवताओं के संमुख विभिन्न प्रकार के चित्रों को अंकित करने के लिये चावल अथवा अन्य वस्तुओं का चूर्ण।

१—देखिए बांबे गजेटियर, भाग २२ (धारवाड़), बांबे, सन् १८८४ ई०, परिशिष्ट 'डी' (राव बहादुर श्री तिरुमलराव वेंकटेश लिखित) में 'रांगोली' क्वार्ट्ज पाउडर (रांगोली), पृष्ठ ८२१-८२२—

"रांगोली, दि वर्ड यूज्ड फार दि क्वार्ट्ज लाइंस ऐंड पिक्चर्स व्हिच प्रुडेंट हाउस-वाइव्ज स्प्रिंकल इन फ्रंट ऑव् देअर हाउस डोर्स, इज सेड टु मीन दि ब्रिलिएंट लाइन फ्रॉम दि संस्कृत रंग, कलर ऐंड आवलि, ए रो। दि आर्थोडाक्स एक्स्प्लेनेशन ऑव् दि स्प्रिंक्लिंग ऑव् दीज लाइंस ऐंड फिगर्स, ऐज वेल ऐज ऑव् व्हाइट-वाशिंग, काउ-डंगिंग ऐंड टाइंग स्ट्रिंग्स ऑव् मैन्गोलीव्ज़ इन हाउसेज, इज दैट इट इज फार ब्यूटी बिकॉज गॉड ड्वेल्स इन दि हाउस।"

प्रयोग--तिआ रांगवली सूतीं राणिया । चक्रवर्ती चिआं ।

—शिशुपालवध[१], ५९१ ।

"रांगोली करणें" = मार डालना, पूर्णतः नष्ट कर देना आदि ।

प्रयोग—"ठेंचून करी रांगोली" ।

—संग्राम ।

व्युत्पत्ति—[संस्कृत-रंज् = रँगना, रंगवल्ली = रंग + ओळ]

"रांगोली होणे" = पूर्णतः नष्ट हो जाना ।

—मोरोपंत[२]-विराट पर्व ४, ३३ ।

"रांगोळें"[३] = रांगोली से भरा वर्तुलाकार लंबा पात्र जिसे विलोलित कर (ढँगलाकर) भूमि पर चित्र बनाए जाते हैं ।

—शब्द-कोश, पृष्ठ २६०४ ।

यतः 'रांगवली' का प्रयोग महानुभाव काव्य 'शिशुपालवध' (रचनाकाल सन् १२७३ ई०) में भी मिलता है, अतः हम यह भली भाँति अनुमान कर सकते हैं कि *रांगोली* चित्र बनाने की यह कला महाराष्ट्र में सन् १२०० ई० के आसपास निश्चय ही प्रचलित थी ।

'शब्द-कोश' (पृष्ठ २५७६) में इस कला के लिये एक दूसरे शब्द का भी उल्लेख हुआ है, यथा 'रंगमाला' और इसकी व्याख्या में लिखा है—"रांगोलीची चित्रें" (रांगोली-चित्र) अथवा 'रांगोली' (चूर्ण) । 'शब्द-कोश' में 'रंगमाला' का निम्नलिखित प्रयोग दिया गया है—

"प्रवर्तोनि गृहकामी *रंगमाला* घालुं पाहती"

—भूपाली धनश्यामाची २०,२",

उपर्युक्त प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है । यहाँ मैं महानुभाव मराठी रचना *'लीला-चरित'* (रचना-काल सन् १२५० ई०, भाग ३, पूर्वार्ध खंड २, श्री एच्० एन्० नेने संपादित, नागपुर, सन् १९३७ ई०) में आए "रंगमालिका" शब्द का उल्लेख करता हूँ—

१—यह प्राचीन मराठी काव्य–शिशुपालवध–भानु भट या भास्कर भट बोरीकर (सन् १२७३ ई०–देखिए श्री चित्रावशास्त्री, पूना कृत मध्ययुगीन चरित्रकोश, पृष्ठ ५८५, सन् १९३७ ई०) द्वारा निर्मित हुआ था ।

२—मराठी कवि मोरोपंत का रचनाकाल सन् १७२९ से १७९४ ई० तक है । —देखिए वही, पृष्ठ ६६० ।

३—यह जानना आवश्यक है कि भूमि पर रांगोली चित्रों को अंकित करने के ऐसे यांत्रिक प्रकार किस समय प्रचलित हुए ।

"मग तेही सडासंमार्जन : चौक रंगमालिका
भरवीलीया : गुढी उभविली : उपहाराची आइति
करविली : आपण घोडें घेउनि साउमे आले :
मार्गी भेट जाली।"[1] —पृष्ठ ६८।

"मग वीळिचां वेळीं ब्राह्मणाचेया घरां बीजें केलें :
ब्राह्मणें सडासंमार्जन केलें : चौक रंगमालिका भरिलीया :"[2] —पृष्ठ ३७।

संत रामदास (सन् १६०८–८२ ई०) 'रंगमाला' का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"तुलसी वनें वृन्दावनें। सुंदर सडे संमार्जनें।
ओटे रंगमाला आसनें। ठाईं ठाईं॥ २॥"

—मानस-पूजा, प्रकरण १ (रामदास समग्रग्रंथ, पूना, पृष्ठ ३३९, सन् १९०६।)

अब तक हमने *रांगोली* विषयक मराठी-साहित्य से सन्-संवत्-युक्त निम्नलिखित प्रयोगों का उल्लेख किया है—

सन् १२७३ ई०—"रांगवली"।
सन् १२५० ई०—"रंगमाली(लि)का"।
सन् १६५० ई०—"रंगमाला"।
सन् १७५० ई०—"रांगोली"।

अब मैं *रांगोली*-चित्रण के विषय में संस्कृत ग्रंथों के प्रमाणों का उल्लेख करूँगा।

'आकाशभैरवकल्प' (पूने के भंडारकर प्राच्य-अनुसंधानशाला का सन् १९२५-२६ ई० का हस्तलेख संख्या ४३) में जो सन् १४०० ई० और सन् १६०० ई० के मध्य की रचना प्रतीत होती है, रंगवल्ली अथवा *रांगोली* के विषय में हम निम्नलिखित संदर्भ पाते हैं—

"सुशिल्पिना कारयित्वा वेदिं कुंडादिकं प्रिये।
लेपयित्वा गोमयेन रंगवल्या समन्ततः॥"

—दुःस्वप्नशांति-स्वरूप-निरूपण, (वेदिका वर्णन) पटल ११० पृष्ठ ३९१।

(वेदी के पास की भूमि गोमय से लीपी गई थी और उस पर रांगोली के चित्र अंकित किए गए थे।)

१—इस गद्य-खंड में एक भक्त द्वारा गोसावि (महानुभाव संप्रदाय के प्रवर्तक चक्रधर) के स्वागत-सत्कार का वर्णन है। गृह के सामने की भूमि पर पहले (गोबर-मिला) जल छिड़का हुआ था। तत्पश्चात् रांगोली चित्रों आदि से भूमि रँगी गई थी।

२—इसमें एक ब्राह्मण द्वारा चक्रधर के आदर-सत्कार का वर्णन है। इस वर्णन में भी हमें ये वस्तुएँ दृष्टिगत होती हैं—
(१) सडा संमार्जन (भूमि पर गोबर-मिले जल का छिड़काव) और
(२) रंगमालिका (सडा संमार्जित भूमि पर रांगोली के चित्र) की ये प्रथाएँ भोज और त्योहार के अवसरों पर आज भी महाराष्ट्र में प्रचलित हैं।

—"गोमयेन विलिप्योर्वी रंगवल्लीं विधाय तु"

—नानावशकुनशान्तिविधानम्, (वेदी-वर्णन), पटल १०८, पृष्ठ ३७७।

"कारयित्वा गोमयेन लेपयित्वा सवारिणा।
पंचवर्णरजोभिस्तं अलंकृत्य तु मण्डपम्॥"

—नृपपट्टाभिषेकांगमंडप, पटल ९२, पृष्ठ ३१६।

(गोमय-मिले जल से लिपी भूमि पर पाँच रंगों के चूर्णों (के चित्रों) से अलंकृत अभिषेक मंडप।)

"एवं कुण्डं वेदिकां च कारयित्वा सुशिल्पिभिः।
लेपयित्वा गोमयेन रजोभिः पञ्चवर्णकैः।
अलंकृत्य पुरोधास्तदाभिषेचनिकन्दिनम्॥

—नृपाभिषेक-कर्तव्यमंडप-वेदिका, पटल ८५, पृष्ठ २९२।

(गोमय से लिपी भूमि के चित्रण के लिये पाँच रंगों के रज प्रयुक्त होने चाहिए।)

—"*कुमारीपूजामंत्रस्वरूपकथनम्*" नामक पटल में (नवरात्रि पर्व पर) विभिन्न वर्णों की कुमारियों के आसन तथा तिलक का विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

तिलक—

(१) ब्राह्मणी—चंदन का चतुरस्र तिलक।
(२) क्षत्रिया—कुंकुम का अर्ध-चंद्र तिलक।
(३) वैश्या—चंदन और अगरु का ऊर्ध्व तिलक।
(४) शूद्रा—कस्तूरी और चंदन का वर्तुल तिलक।
(५) अंत्यजा—रक्तचंदन का वेदिमध्य तिलक।

आसन— भूमि पर विभिन्न कुमारियों के लिये विभिन्न आसन-निर्माण के हेतु चूर्णित तंडुल का उपयोग होना चाहिए। ये आसन अनेक प्रकार के होते हैं—

(१) अष्टपत्र—आठ दलों के।
(२) षडश्र—छह कोणवाले।
(३) त्रिकोण—तीन कोणवाले।
(४) चतुर्दल—चार दलों के।
(५) चतुरस्र—चौकोर।
(६) स्वस्तिकांक—स्वस्तिक के रूप का।

मंडलानि—रेखाचित्र

"अष्टपत्रं षडश्रं च त्रिकोणं च चतुर्दलम्।
चतुरश्रं स्वस्तिकांकं क्रमशो मण्डलानि वै॥
कल्पयेदासनार्थं वै शालितण्डुलचूर्णतः॥"

—पटल ६६, पृष्ठ २१५।

"मासि भाद्रपदे शुक्लचतुर्दश्यां गृहांगणे ।
कारयित्वा पुष्पमयं मण्डपं सुमनोहरम् ॥
तदनन्तरे सरोजाक्षि गोमयेन सवारिणा ।
संलिप्य सर्वतो भद्रं रंगवल्या विलिख्य तु ॥"

—अनंतव्रतस्वरूपकथनम्, पटल ५१, पृष्ठ १५७ ।

"वेद्यां पश्चिमदिग्भागे गोमयेन सवारिणा ।
संलिप्य समलंकृत्य रंगवल्या समन्ततः ॥

—महाशांतिअंगग्रहयज्ञस्वरूपकथनम्, पटल १७, पृष्ठ ६० ।

"राज्ञा संकल्पितमहाशांत्यंगं वास्तुपूजनम् ।
करिष्य इति संकल्प्य वेद्यां दक्षिणभागतः ॥
गोमयेनानुलिप्योर्वीं रंगवल्लीं विधाय च ॥"

—"महाशांत्यंगवास्तुहोमस्वरूपकथनम्, पटल १६, पृष्ठ ५५ ।

"तत्कुण्डं वेदिकां चैव गोमयेनानुलिप्य वै ।
रंगमाल्यादिभिः सम्यगलंकृत्याथ मंत्रवित् ॥"

—साम्राज्यलक्ष्मीमंत्रहोमस्वरूपकथनम्, पटल ७, पृष्ठ २५ ।

रंगवल्ली के विषय में जिन संदर्भों का उल्लेख ऊपर हुआ है उनके द्वारा इस प्रथा के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें उद्घाटित होती हैं। जैसे—

(१) जिस भूमि पर रंगवल्ली का चित्रण होता है उस पर पहले गोमयानुलेप[1] अवश्य होता है।

१—देखिए शांडिल्यगोत्रीय श्री त्र्यंबक माटेकृत आचारेंदु, पृष्ठ ७, (आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, सन् १९०९ ई०)। यहाँ इस लेखक (सन् १८३८ ई०) ने गोमयानुलेपन के महत्त्व के विषय में मार्कंडेय पुराण से निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

"मार्कण्डेयपुराणे—"प्रातःकाले स्त्रिया कार्यं गोमयेनानुलेपनम् ।
अकृतस्वस्तिकां यातु कामेलिप्तां च मेदिनीम्" ।
तस्या त्रीणि विनश्यन्ति वित्तमायुर्यशस्तथा ।"

इस उद्धरण में कहा गया है कि नित्य प्रातःकाल गोमय से भूमि के लीपे जाने के पश्चात् उस पर स्वस्तिक चिह्न बनाना नितांत आवश्यक है। सभी पुनीत अवसरों पर रंगवल्ली चित्रों में भी सामान्यतः यह चिह्न बनाया जाता है। आचारेंदु (पृष्ठ १०४) स्थंडिल (यज्ञस्थल) के उपलेपन का विधान करता है—

"एवं स्थण्डिलं कृत्वोपलेपनादि कुर्यात्। तदुक्तं गृह्ये—उपलिप्योल्लिख्य षड्लेखा उदगायतां...। उपलेपने कारणमुक्तं स्मृतिरत्नाकरे पुराणे—

"सर्वत्र वसुधा मेध्या सशैलवनकानना ।
अथ विष्णुपदाक्रान्तोपलेपनमिदं कृतः ॥

(२) वेदी से रंगवल्ली का संबंध, अर्थात्, वेदी के चारों ओर की भूमि को सजाने के लिये इसका उपयोग।

(३) नृपाभिषेक के अवसर पर पंचवर्ण रज से भूमि को सजाने के लिये रंगवल्ली का उपयोग।

श्री त्र्यंबक माटेकृत *आचारेंदु* (सन् १८३८ ई०, आनंदाश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, सन् १६०६ ई०) *स्वस्तिक* तथा अन्य चिह्नों[1] के अंकन के लिये शिलाचूर्ण के प्रयोग की ओर ध्यान आकृष्ट करता है—

"पारिजाते.................................
शिलाचूर्णेन यो मर्त्यो देवतायतने नृप।
करोति स्वस्तिकादीन्हि तेषां पुण्यं निशामय॥
यावत्यः कणिका भूमौ क्षिता रविकुलोद्भव।
तावद्युगसहस्राणि हरिसालोक्यमश्नुते॥"

—पृष्ठ १७५।

पारिजात में संमार्जन और गोमय तथा अन्य वस्तुओं से उपलेपन का भी उल्लेख इस प्रकार है—

"देवतायतने राजन् कृत्वा संमार्जनं नरः।
यत्फलं समवाप्नोति तन्मे निगदतः शृणु॥
यावत्यः पांसुकणिकाः सम्यक्संमार्जिता नृप।
तावद्युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते॥
मृदा धातुविकारैर्वा वर्णकैर्गोमयेन वा।
उपलेपनकृद्यस्तु नरो वैमानिको भवेत्॥"

(उपरिलिखित शिलाचूर्ण का तात्पर्य मनः शिलाचूर्ण *अर्थात् लाल रंग का रासायनिक* चूर्ण हो सकता है। इसका तात्पर्य 'प्रस्तर चूर्ण' (स्टोन-पाउडर) भी हो सकता है। आजकल '*रांगोली*' चूर्ण सफेद पत्थरों के टुकड़ों से तैयार किया जाता है।)

पुरा शक्रो हि वज्रेण वृत्रं जघ्ने महासुरम्।
तन्मेदसा हि निर्लिप्ता तदर्थमुपलेपनम्॥"
"आयतनेऽप्युपलेपनादिविधिमाह परशुरामः......"

—पृष्ठ १०५।

१—अपरार्क (सन् ११०० ई०) याज्ञवल्क्य स्मृति (आनंदाश्रम, पूना, भाग १, सन् १९०३ ई०, पृष्ठ १४७, गृहस्थधर्मप्रकरण) की व्याख्या करते हुए बौधायन की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करता है जिनमें भूमि के उपलेपन तथा उस पर चित्रांकन का उल्लेख है—

"बौधायन—उपलिप्ते समे स्थाने शुचौ श्लक्ष्णसमन्विते।
चतुरश्रं त्रिकोणं तु वर्तुलं चार्धचन्द्रकम्॥
कर्तव्यमानुपूर्व्येण ब्राह्मणादिषु मण्डलम्॥"

जटासिंह नंदीकृत '*वरांग-चरित*' (ईसा की सातवीं शती की रचना, श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा संपादित, बंबई, सन् १९३८ ई०) में *रात्रिबली* के अवसर पर विभिन्न चित्रों से भूमि को सजाने के लिये अनेक प्रकार के चूर्णों, कुसुमों और तंडुल के प्रयोग का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"चूर्णैश्च पुष्पैरपि तंडुलैश्च दशार्धवर्णैं बलिकर्मयोग्यैः ।
नानाकृतींस्तत्र बलीन्विधिज्ञा भूमिप्रदेशे रचयांबभूवुः ॥"
—सर्ग २३, श्लोक १५, पृष्ठ २२१ ।

(दशार्धवर्णैः = पाँच रंगोंवाला)। उपर्युक्त श्लोक में लिखित 'दशार्धवर्णैः' की तुलना '*आकाशभैरवकल्प*' (पटल ९२) में वर्णित नृपाभिषेक स्थल को सजाने के लिये प्रयुक्त 'पंचवर्णरजोभिः' से की जा सकती है।

वादीभसिंहकृत *गद्यचिंतामणि* (श्री टी० एस्० के० शास्त्री तथा श्री एस्० एस्० शास्त्री संपादित, मद्रास, सन् १९०२ ई०) में 'भोजन स्थान-मंडप' में 'मंगलचूर्ण रेखा' (किसी लाल चूर्ण से बना चित्र) का उल्लेख मिलता है—

"हर्म्यमविशत् । तत्र च प्रसार्यमाणसौवर्णामत्रविडम्बितमित्रमण्डले, त्वरमाणपरिजनवनिताकरप्रमृज्यमानमणिचषकशुक्तिसंचये, संमूर्च्छदतुच्छपाटलपरिमलसुरभिपानीयभरिततपनीयभृंगारके, लिख्यमानमंगलचूर्णरेखानिवेद्यमानभोजनभुवि, समुद्घाटितपंजरकवाटविनिर्गतक्रीडाशुकसारिकाहूयमानपौरोगवे, प्रवेश्यमानबुभुक्षितजने प्रदीयमानपंक्तिभोजनामत्रकदलीपत्रे, प्रत्यग्रपाकजनितसौरभ्यलुभ्यद्घ्राणे समन्ततश्चलिततालवृन्तग्राहिणीचरणनूपुररणितभरितदिशि भोजनस्थानमंडपे ......बालचन्द्रमसमायुष्मन्तमपश्यत् ।"
—पृष्ठ ३८ ।

उपर्युक्त गद्यखंड में राजकीय मंडप का बहुत ही रंगीन चित्र मिलता है। इसकी तुलना आजकल के भारतीय राजाओं के किसी भी भोजन-मंडप से की जा सकती है। यहाँ उल्लिखित स्वर्ण पात्रों के अतिरिक्त हमारे सामान्य आधुनिक विवाह और मुंज-संस्कार के अवसरों पर व्यवहृत भोजन-मंडप सहस्र वर्ष से भी अधिक पूर्व के वादीभसिंह द्वारा वर्णित अत्यंत चित्रात्मक भोजन-मंडप से ज्यों के त्यों मिलते हैं। संपादकों के मत्यनुसार यह रचयिता ईसवी सन् ९५० के बाद का है; क्योंकि इसने *कादंबरी* आदि के रचयिता बाणभट्ट की काव्य-शैली का अनुकरण किया है। यह भोज (सन् १०५० ई०) के भी बाद का हो सकता है। (देखिए *गद्यचिंतामणि* की भूमिका, पृष्ठ ४-५)। वादीभसिंह ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि भोजन-मंडप के चित्रों में रांगोली चित्र भी होते हैं। ('मंगलचूर्णरेखानिवेद्यमानभोजनभुवि')[1]।

१—यहाँ मैं रांगोली के उपयोग का उल्लेख कर सकता हूँ, जैसा कि बांबे गजेटियर सन् १८८४ ई० के भाग २२ (धारवाड़), परिशिष्ट डी, पृष्ठ ८२१-२२ पर उल्लिखित है—

"दि बेस्ट रांगोली इज मेड बाइ पाउंडिंग व्हाइट कार्ट्ज इनटु पाउडर। इट्स कलर इज व्हाइट एंड इट मे बी यूज्ड ईदर व्हाइल दि ब्राह्मणस् आर इन ए प्योर स्टेट आफ्टर बेदिंग, और व्हेन दे हैव नॉट बेद्ड। इन दि एब्सेंस ऑव् कार्ट्ज पाउडर, राइस फ्लौर मे बी यूज्ड।

रंगवल्ली-संबंधी तिथि-पुष्ट उल्लेखों के साथ और आगे बढ़ने के पूर्व यह भी विचार कर लिया जाय कि भारतीय कला के क्षेत्र में रंगवल्ली चित्रों के स्थान के विषय में उपलब्ध लेखों का क्या मत है। इस संबंध में मैं अपने मित्र डा० वी० राघवन् के लेख 'चित्रकला-संबंधी कुछ संस्कृत उल्लेख,' (सम संस्कृत टेक्स्टस आन पेंटिंग, इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली, भाग ९, सन् १९३३ ई०, पृष्ठ ८९९-९११) से विस्तृत उद्धरण देने से अधिक कुछ नहीं कर सकता—

इन ऐडिशन टु दि व्हाइट लाइंस डॉटस और फिगर्स ऑव् येलो, रेड, ब्लैक, ग्रीन, एंड ब्लू पाउडर आर आल्सो आकेजनली यूज्ड। दि येलो पाउडर इज मेड फ्रॉम टेर्मेरिक, दि रेड इज दि आर्डिनरी गुलाल ऑव् राइस और रागी फ्लौर, डाइड विथ रेड सैंडर्स, दि ग्रीन इज फ्रॉम दि ग्राउंड ड्राइड लीव्ज ऑव् दि इशीनोमीनी ग्रैंडिफ्लोरा, दि ब्लैक चारकोल, ऐंड दि ब्लू इज इंडिगो। एवरी डे लाइंस, डॉट्स ऐंड फिगर्स आर ड्रान ऑन दि फ्लोर्स ऑव् ऑल ब्राह्मण हाउसेज, थ्री, फोर और फाइव स्ट्रेट लाइंस, पैरेलेल टु दि वाल्स ऑव् रूम्स ऐंड व्हरांडाज्। क्रास लाइंस, सर्किल्स विथ डॉटस इन दि सेंटर ऐंड इलाबोरेट फिगर्स आर आल्सो ड्रान। ऑन ग्रेट आकेजन्स इलाबोरेट ट्रेसरी ऐंड फिगर्स ऑव् मेन, एनिमल्स ऐंड ट्रीज आर आल्सो ड्रान।

ऑन नागर-चौथ और दि कोब्रा'ज-फोर्थ, दैट इज दि ब्राइट फोर्थ ऑव् श्रावण और ऑगस्ट-सेप्टेंबर, ब्राह्मणज, इन ऐडिशन टु मेकिंग दि यूजुअल फिगर्स, ड्रा ऐंड वर्शिप सिंग्ल, डबल ऐंड ट्विस्टेड फार्म्स ऑव् स्नेक्स स्प्रिंकिल्ड इन कार्ट्ज पाउडर। ड्यूरिंग दि लीडिंग डेज ऑव् दि दिवाली फीस्ट, दि डार्क फोर्टीन्थ ऐंड फिफ्टींथ ऑव् आश्विन और ऑक्टूबर-नावेंबर ऐंड ड्यूरिंग दि ब्राइट हाफ ऑव् कार्त्तिक और नावेंबर डिसेंबर, ऑल हिंदूज सेट व्हाट दे कॉल दि पंडुज, फाइव काउ-डंग कोंस, टू और थ्री इंचेज हाइ ऐंड अबाउट दि सेम राउंड दि फुट, आउटसाइड टु दि राइट ऐंड लेफ्ट ऑव् दि थ्रेश-होल्ड ऐंड ऑन दि टॉप ऑव् दि आउटर हाउस डोर। राउंड ईच काउ-डंग कोन दे ड्रा डबल और ट्रिबल व्हाइट ऐंड रेड लाइंस, सेट ए फ्लावर ऑव् दि कुंबल (के), कुकुरबिटाहिस्पिडा गार्ड ऑन ईच ऑव् दि काउडंग कोंस ऐंड थ्रो ओवर ऑल टेर्मेरिक ऐंड रेड-पाउडर। ऑन दि मैरेज-डे ऑव् विष्णु ऐंड दि तुलसी प्लैंट, दैट इज दि इवनिंग ऑव् दि ब्राइट ट्वेल्फ्थ ऑव् कार्तिक और नेवंबर-डिसेंबर, ऐंड व्हेन लक्ष्मी, दि गॉडेस ऑव् वेल्थ कम्स इन श्रावण और ऑगस्ट-सेप्टेंबर, बिसाइड्स दि यूजुअल कार्ट्ज फिगर्स, गोपद और काउ'ज-फुट-प्रिंट्स आर स्प्रिंकल्ड विथ रांगोली पाउडर ऑल एलांग दि ग्राउंड फ्रॉम दि आउटर थ्रेश-होल्ड ऑव् दि हाउस टु दि श्राइन व्हिच हैज बीन मेड रेडी फॉर दि गॉड।

व्हेन फीस्ट्स आर गिवेन इन दि ओपेन एअर, इन फ्रंट ऑव् ऐंड ऑन ईच साइड ऑव् दि बोर्ड ऑन व्हिच ईच गेस्ट सिटस, लाइंस ऐंड आर्चेज आर ड्रान इन कार्ट्ज ऐंड रेड पाउडर। ऑन बर्थ, मैरेज ऐंड अदर फेस्टिव ऑकेजंस, ऐंड व्हेन इंटरटेनमेंट्स आर गिवेन इलाबोरेट कार्ट्ज-पाउडर फिगर्स आर ट्रेस्ड। ऑन ऑकेजंस ऑव् डेथ्स, फ्युनेरल सेरिमनीज, इयर्ली माइंड-राइट्स और माइंड-डिनर्स, नो कार्ट्ज लाइंस, डॉट्स और फिगर्स आर ड्रान, एक्सेप्ट दैट ऐट डिनर्स इन ऑनर ऑव् सैंट्स ए लिट्ल कार्ट्ज पाउडर इज ऑकेजनली

"अभिलषितार्थ-चिंतामणि (राजा सोमेश्वरकृत, सन् ११३० ई०) में चित्रों के पाँच प्रकार बताए गए हैं—विद्ध, अविद्ध, भावचित्र, रसचित्र और धूलिचित्र। इनमें से 'भावचित्र' अनुपम होता है और इसका महत्त्व भी सर्वाधिक है। ऊपर इसकी विवेचना करते हुए बताया गया है कि '*भावचित्र*' में भाव का चित्रण होता है। '*रसचित्र*' तथा '*धूलिचित्र*' समान कोटि के होते हैं। '*धूलिचित्र*' तमिल '*कोलम*' है जो सफेद पिसान द्वारा भूमि पर घरों के सामने बनाया जाता है। *मार्गशीर्ष* मास में ग्रामीण तमिल बालिकाएँ अपने घरों के सामने बृहत्तम और अत्यंत पेंचीदे 'कोलमों' की रचना के लिये परस्पर होड़ करती हैं और बाद में उन 'कोलमों' के विभिन्न कोणों को कूष्मांड-पुष्पों से अलंकृत करती हैं। उत्सवसंबंधी अन्य अवसरों पर घरों, मंदिरों तथा '*नीराजन*' के लिये तंवलमों पर (गृहों में प्रयुक्त होनेवाले पीतल के पात्र) अनेकानेक रंगीन चूर्णों से ये कोलम रचे जाते हैं। ये चित्र स्वभावतः अल्पकालिक होते हैं। इसीलिये '*शिल्परत्न*'कार श्रीकुमार ने इन्हें '*क्षणिक*' की संज्ञा दी है। चूँकि ये विशेष रूप से भूमि पर ही अंकित किए जाते हैं, अतः नारद ने इस प्रकार के चित्रों को 'भौम' कहा है। श्रीकुमार इनका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

> "एतान्यनलवर्णानि चूर्णयित्वा पृथक् पृथक्।
> (ए) तैश्चूर्णैः स्थण्डिले रम्ये क्षणिकानि विलेपयेत्॥
> धूलीचित्रमिदं ख्यातं चित्रकारैः पुरातनैः।"
>
> —शिल्परत्न, अध्याय ३६, श्लोक १४४, १४५।

यूज्ड। नो स्पेशल कार्ट्ज-फिगर्स आर ड्रान अ नो-मून और फुल-मून डेज। दि काउ-डंगिंग ऑव् दि ग्राउंड ऐंड दि ड्राइंग ऑव् फीयरफुल कार्ट्ज-पाउडर इज ऐन इंपार्टेंट पार्ट इन मोस्ट एक्सॉर्सिज्म्स।

दि ग्रेट टेसर्स ऑव् कार्ट्ज-पाउडर फिगर्स फॉर्मिंग देम सिंप्ली बाइ लेटिंग दि पाउडर ड्रॉप फ्रॉम बिट्वीन दि थंब ऐंड फिंगर्स आर ब्राह्मण विमेन। नो ब्राह्मण ऊमन ड्युरिंग हर मंथ्ली सिकनेस, फॉर थ्री मंथ्स आफ्टर चाइल्ड-बर्थ, और व्हेन इन मोर्निंग मे ड्रा कार्ट्ज लाइंस। जैन्स यूज रांगोली लाइक ब्राह्मण्स ऐंड मराठाज यूज इट ऑन स्पेशल ऑकेजंस। सम, बट नॉट ऑल लिंगायत्स ड्रा ए फ्यू लाइंस एवरीडे इन देअर हाउसेज। ऑन मून-लाइट नाइट्स ऐंड ऑन ग्रेट ऑकेजंस लिंगायत्स ड्रा लांग बल लाइंस ऑव् डॉट्स, ऑल्टरनेटली ऑव् लाइम ऐंड वाटर ऐंड रेड अर्थ ऐंड डाइन ऐंड प्ले क्लोज बाइ दीज लाइंस। लिंगायत्स ऑल्सो ड्रा वन और टु लाइंस ऑव कार्ट्ज-पाउडर एलांग दि एज ऑव् दि ग्रेव बिफोर बेरिइंग दि बॉडी। पारसीज, लाइक हिंदूज, डेकोरेट देअर हाउस फ्रंट्स बाइ स्टैंपिंग देम विथ कार्ट्ज-पाउडर प्लेट्स। मुसल्मान्स ऐंड नेटिव कन्वर्ट्स टु क्रिश्चियानिटी आर दि ओन्ली पर्सन्स हू डू नॉट यूज कार्ट्ज डेकोरेशन्स। फॉर्मर्ली दि टू सरीज वेअर ऑल मेड बाइ लेटिंग दि पाउडर स्लिप बिट्वीन दि थंब ऐंड फिंगर्स। ऑव् लेट इयर्स ट्यूब्स ऐंड प्लेट्स विथ अपटर्न्ड एजेज पीयर्स्ड विथ डिजाइंस हैव बीन फिल्ड पाउडर ऐंड आइदर रोल्ड और स्टैंप्ड ओवर दि प्लेस टु बी डेकोरेटेड।"

रसचित्र '*कोलम*' का दूसरा प्रकार है। रसचित्र में आए *रस* शब्द से भ्रमित होकर कोई उसे भावचित्र से न जोड़े। यहाँ '*रस*' शब्द का अर्थ '*द्रव*' या रंगीन घोल है। *अभिलषितार्थ-चिंतामणि* में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"सद्रवैर्वर्णकैः लेख्यं रसचित्रं विचक्षणैः।"

इस प्रकार के *कोलम* कुछ तमिल घरों में अब भी अंकित किए जाते हैं। इसके लिये सफेद पिसान का घोल और *लाल कावि* (गेरू) का घोल प्रयुक्त होता है और ये तमिल में *मावुक्कोलम* और *काविक्कोलम* कहे जाते हैं। इनमें से प्रथम में लहरदार रेखाएँ बनाई जाती जाती हैं। इस प्रकार रसचित्र भी एक प्रकार का *कोलम* ही है। जिस प्रकार धूलिचित्रों में चूर्ण का प्रयोग होता है उसी प्रकार रसचित्रों में द्रव का। (काव्य-ग्रंथों के अनुसार कुमारियों के कपोलों तथा वक्षस्थलों पर अंकित किए जानेवाले मकर तथा अन्य रंगीन चित्र भी इसी रसचित्र की ही श्रेणी में आते हैं।)

अतः श्रीकुमार का मत है कि धूलिचित्र,[1] चित्र (वास्तुचित्र) आदि की भाँति ही रसचित्र भी भित्तियों पर अंकित नहीं होते—

"सुधाधवलिते भित्तौ नैव कुर्यादिदं सुधीः।
रसचित्रं तथा धूलीचित्रं चित्रमिति त्रिधा ॥"

—शिल्परत्न, श्लोक १४३।

इस प्रकार चित्राभास और अर्धचित्र— दो ही भित्तियों पर अंकित होते हैं। डा० ए० के० कुमारस्वामी ने इन तथ्यों पर विचार नहीं किया है। फलस्वरूप वे *विष्णुधर्मोत्तर* के वैणिक का संबंध श्रीकुमार[2] के रसचित्र से स्थापित करते हैं और दोनों को एक ही बताते हैं। (देखिए आशुतोष मुकर्जी कोमेमोरेशन वॉल्यूम, भाग १, पृष्ठ ५०)। निस्संदेह, रस का तात्पर्य भाव भी है और भाव वीणा से संबद्ध है जिससे उन्होंने वैणिक प्रकार व्युत्पन्न किया है। किंतु जब सोमेश्वरकृत रसचित्र की स्पष्ट परिभाषा सामने आती है, जो श्रीकुमार के भी ज्ञान का आधार है, तब इस तथ्य का निश्चय हो जाता है कि रसचित्र भी धूलिचित्र से संबद्ध *कोलम* का ही एक प्रकार है। यहाँ रस का अर्थ द्रव है।"

—पृष्ठ १०५-१०६।

१—देखिए इंट्रोडक्शन टु विष्णुधर्मोत्तर (भाग ३), डा. स्टेला क्रामरिशकृत अनुवाद, पृष्ठ ८, कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२८ ई०—"फ्रॉम दि शिल्परत्न......वी नो दैट धूलिचित्र, पाउडर-पेंटिंग फैमिलिअर टु बेंगाल लेडीज ऐज अल्पोन, वाज अप्लाइड ऐज टेंपोरेरी कोटिंग ऑव् पाउडर्ड कलर्स ऑन ए ब्यूटिफुल पीस ऑव् ग्राउंड।"

२—शिल्परत्न (त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरीज में प्रकाशित, सन् १९२२ ई०) के कर्ता।

"*नारदशिल्प* (अड्यार हस्तलेख) के *इकहत्तरवें अध्याय* में चित्रालंकृतिरचना-विधिकथन है। उशीनर के अनुसार चित्र सुरों तथा वास्तुनाथों (घरों के प्रतिनिधि देवताओं) के ही प्रीत्यर्थ नहीं होते, *सौंदर्य के लिये भी* होते हैं। नारद ने चित्रों का नए ढंग का वर्गीकरण किया है, जो अन्य ग्रंथों में नहीं मिलता और यह वर्गीकरण *चित्रांकन के स्थलों के विचार से ही* किया गया है। उनका कथन है कि चित्र तीन प्रकार के होते हैं—(१) *भौम* (भूमि पर बनाए जानेवाले) और (२) *कुड्यक* (भित्ति पर बनाए जाने वाले) और (३) *ऊर्ध्वक* (छत पर बनाए जानेवाले)। ये दूसरी दृष्टि से पुनः दो वर्गों में विभक्त हैं—*शाश्वतक* (स्थायी) और *तात्कालिक* (अस्थायी)। अंतिम का संबंध भौम से है। सोमेश्वर के *धूलिचित्र* तथा *रसचित्र* कोलम का संबंध इसी वर्ग से है। *नारद का कथन है कि इस प्रकार के चित्र घर के सामने द्वार की सीढ़ियों तथा घर के भीतर भूमि पर सर्वत्र अंकित किए जाते हैं। पक्षी, सर्प, हाथी, घोड़े आदि भी चित्रित किए जा सकते हैं।* इस ढंग के चित्र हमारे घरों में अब भी बनाए जाते हैं[1]।" —पृष्ठ ९१०।

त्रिविक्रम भट्ट ने (सन् ९१५ ई०)[2] 'रंगवलि' का उल्लेख अपने *नलचंपू* अथवा दमयंती-कथा (जयपुर के श्री शिवदत्त द्वारा संपादित, बंबई, सन् १८८५ ई०, पृष्ठ १४०) के चतुर्थ उच्छ्वास में इस प्रकार किया है—

इत्याशास्य विश्रान्तायां वियद्वाचि स्थित्वा च किंचित्कृतोचितापचितिषु गतेषु क्षणादन्तर्धानं मुनिषु "समुच्छ्रीयन्तां वैजयन्त्यः, बध्यन्तां तोरणानि, सिच्यन्तां चन्दनाम्भोभिः पन्थानः, **मण्डयन्तां मसृणमुक्ताफलक्षोदरंगावलीभिः प्रांगणानि**, क्रियन्तां कुसुमप्रकरभाञ्जिचत्वराणि, पूज्यन्तां द्विजन्मानो देवताश्च, दीयन्तां दानानि, गीयन्तां मंगलानि, विसृज्यन्तां वैरिवन्द्यः, मुच्यन्तां पक्षिणोऽपि पञ्जरेभ्यः" इति श्रूयमाणेषु परितः परिजनालापेषु।"

दिगंबर जैन रचनाकार सोमदेव ने अपनी प्रसिद्ध रचना *यशस्तिलकचंपू* (सन् ९५९ ई०)[3] में 'रंगवल्ली' का उल्लेख किया है। डा० वी० राघवन् ने "ग्लीनिंग्स फ्रॉम

१—राजदफ्तरदार प्रोफेसर श्री सी० बी० जोशी ६ दिसंबर सन् १९४७ ई० को मुझे लिखते हैं—"आइ हैव नॉट मेट विथ एनी डिस्क्रिप्शन्स् ऑव् रांगोली इन दि पालि टेक्स्ट्स।

रांगोली इज कॉल्ड सांजी इन गुजरात। **सांजीवाले** इज दि नेम ऑव् ए डेक्नी फैमिली हिअर (ऐट बरोदा), हूज ड्यूटी इज टु अरेंज **रांगोली** इन दि पैलेस।"

उपर्युक्त सूचना के लिये मैं प्रो० जोशी महोदय का बहुत कृतज्ञ हूँ। आशा है गुजराती साहित्य के कोई विद्वान् उसके नवीन-प्राचीन साहित्य से, विशेषतः तिथि-पुष्ट लेखों से, **सांजी**-संबंधी सभी संभाव्य सूचनाएँ प्रकाशित करेंगे।

२—देखिए ए० बी० कीथकृत हिस्ट्री ऑव् संस्कृत लिटरेचर, सन् १९२८ ई०, पृष्ठ ३३२—त्रिविक्रम इज दि ऑथर ऑव् नवसरी इंस्क्रिप्शन ऑव् राष्ट्रकूट किंग इंद्र थर्ड ऑव् ए. डी. ९१५।

३—वही, पृष्ठ ३३३।

सोमदेवसूरिं'ज यशस्तिलकचंपू" (*जर्नल ऑव् गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टिट्यूट, इलाहाबाद*, वाल्यूम १, भाग २, फरवरी सन् १९४४ ई०, पृष्ठ २५५) नामक निबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए हैं—

"पृष्ठ १३३—पर्यन्तवादयैः संपादितकुसुमोपहारः प्रदत्तरंगावलि (रंगवल्लिः) इव गुहावरिसरेषु ।

यह उल्लेख क्षणिक भौम चित्रों से संबद्ध है जो सफेद और रंगीन चूर्णों से हमारी स्त्रियों द्वारा रचा जाता है। इनसे भूमि सजाई जाती है और इन्हें *रंगवल्ली*, *रांगोली*, *अल्पना* अथवा *कोलम* (तमिल) के नाम से पुकारते हैं। चित्रकला-संबंधी संस्कृत ग्रंथों के अनुसार यह *क्षणिक चित्र* कहा जाता है और इसे *धूलिचित्र* और *रसचित्र* के अंतर्गत माना जाता है।

इस भौम रंगवल्ली-संबंधी तीन अन्य उल्लेख पृष्ठ ३५०, ३६९ और भाग २, पृष्ठ २४७ पर भी हैं—

(क) "अकालक्षेपं दक्षस्त्र रंगवल्लिप्रदानेषु" । —पृष्ठ ३५० ।

(ख) "अनल्पकर्पूरपरागपरिकल्पितरंगावलिविधानम् ।"

यह राजसभ-भवन का वर्णन है, जहाँ चित्र-निर्माण के लिये श्वेत कर्पूर की धूलि का व्यवहार किया गया है। —पृष्ठ ३६९ ।

(ग) "चरणनखस्फुटितेन रंगवल्लीमणीन् इव असहमानया ।"

यह उल्लेख रनिवास के कमरों की भूमि पर रंगीन पत्थरों द्वारा स्थायी रूप से निर्मित रंगवल्ली चित्रों का है।

चौथे उल्लेख के लिये देखिए भाग ३, पृष्ठ २४७—"रंगवल्लीषु परभागकल्पनम्—अर्थात् चित्र-रचना के लिये भूमि का प्रस्तुत करना ।"[1]

हेमचंद्र (सन् १०८८-११७२ ई०) ने *देशीनाममाला*, १,७८[2] में 'आइप्पणं' शब्द का उल्लेख ('रांगोली-रचना' के अर्थ में) इस प्रकार किया है—

१—यह उद्धरण मूल अँगरेजी का हिंदी अनुवाद है। —संपादक ।

२—इस संदर्भ के लिये मैं कलकत्तास्थित अपने मित्र श्री बी० सी० देव का ऋणी हूँ। आपने १ दिसंबर सन् १९४७ ई० के पत्र में मुझे लिखा है—

"ऐज रिगार्ड्स रांगोली—येस, दैट इज ऑल्सो दि प्रैक्टिस इन बेंगाल, ऐज इनडीड, आइ बिलीव एवरी व्हेअर अमंग हिंदूज इन इंडिया। इन बेंगाल, इट इज यूज्ड नॉट ओनली इन फ्लोर-डेकोरेशन, बट ऑल्सो इन डेकोरेटिंग उडेन सीट्स फॉर ब्राइड ऐंड ब्राइडग्रूम ऐंड फॉर ऑनर्ड गेस्ट्स ऐट सेरिमनीज ऐंड स्टांसेज फॉर इमेजेज इन पूजाज। इन बेंगाल इट इज कॉल्ड आलिपना और आल्पना व्हिच कैरीज अस बैक टु हेमचन्द्र'ज देशीनाममाला १,७८ व्हेअर दि वर्ड अकर्स ऐज आइप्पणं···आइ थिंक दि वर्ड इज नॉट रिअली देशी बट ए तद्भव फ्रॉम आलिंपन ।"

"आइप्पणं च पिठ्ठे छणधर मंडण छुहा छडाए अ।"

हेमचंद्र इसकी व्याख्या करते हैं—

"आइप्पणं पिष्टं उत्सवे गृहमण्डनार्थं सुधाछटा च। तदुन्लपिष्टक्षीरं गृहमण्डनम् आइप्पणं इति अन्ये।"

—पृष्ठ ३८, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, सन् १९३८ ई० का संस्करण।

शब्दसूची—(पृष्ठ ७) में संपादक ने 'आइप्पण' की व्याख्या इस प्रकार की है—

"आइप्पण, १,७८, पिष्टम्, ए ग्राउंड सब्स्टेंस, उत्सवे गृहमण्डनार्थं सुधाछटा, व्हाइट वाश। तन्दुलपिष्टक्षीरं गृहमण्डनमित्यन्ये।"

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि हेमचंद्र के समय में 'आइप्पण' शब्द किसी पिष्ट वस्तु के लिये प्रयुक्त होता था। इसका अर्थ "त्योहारों के अवसर पर घरों को सुंदर बनाने के लिये 'सफेदी करना' भर था। इस शब्द का अर्थ 'घर को अलंकृत करने के लिये पिसे हुए तंदुल का घोल' भी था। अर्हद्दास[1] (सन् १२५० ई०) ने अपने 'मुनि-सुव्रत-काव्य' (पंडित के० भुजबली शास्त्री तथा पंडित हरनाथ द्विवेदी द्वारा संपादित, आरा, सन् १९२९ ई०) में 'रंगालय' (रंगोली) चित्र का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिनेंद्र के जन्म के अवसर पर इसका निर्माण प्रत्येक गृह के आँगन में पाँच विभिन्न रत्नों द्वारा हुआ था। उक्त ग्रंथ के सर्ग ४, श्लोक २३ में लिखा है--

"प्रत्यंगणं कल्पितपंचरत्नरंगालयश्चक्रुरनेकभंगाः।
जिनेन्द्रजन्मावसरप्रणश्यत्पयोधरस्रस्तधनुर्विशंकाम्॥"[2] —पृष्ठ ८०।

टीका में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

"बहुविधाः(अनेकभंगाः) रंगाणां आलयः (रंगालयः) पंचरत्नैः[3] कृताः अंगणमंगणं

[ऐपन—एक मांगलिक द्रव्य जो चावल और हल्दी को एक साथ गीला पीसने से बनता है। देवताओं की पूजा में इससे थापा लगाते हैं और घड़े पर चिह्न बनाते हैं।—हिंदी शब्द-सागर, पृष्ठ ३९३। ऐपन का प्रयोग विवाहादि के अवसरों पर बहुत प्रचलित है और भूमि पर भी इससे चिह्न बनाते हैं।—संपादक।]

१—अर्हद्दास ने **मुनिसुव्रत-काव्य** में तथा अपने अन्य दो ग्रंथों **पुरुदेवचंपू** और **भव्यकंठाभरण** में भी आशाधर का उल्लेख किया है। आशाधर अर्हद्दास के गुरु थे। यतः आशाधर का समय संवत् १३०० (सन् १२४४ ई०) के आसपास है, अतः न्यायतः हम इस निष्कर्ष तक तो पहुँच ही सकते हैं कि अर्हद्दास **सन् १२५० ई० के** लगभग हुए। देखिए, भूमिका, पृष्ठ क।

२—जिनेंद्र के जन्म के अवसर पर पाँच रंगों से निर्मित **रांगोली** चित्र लुप्त होते मेघ द्वारा भूमि पर गिराए गए इंद्रधनु के समान लगे।

३—अर्हद्दास द्वारा वर्णित **रांगोली** के पाँच रंग किसी शुभ लक्षण का संकेत करते जान पड़ते हैं। मैं ईसा की सातवीं शती के वरांगचरित (२३,१५) में वर्णित बलिकर्म में प्रयुक्त

प्रतिकल्पिताः जिनेन्द्रजन्मावसरे विनश्यत् मेघः (पयोधरः) तस्मात् स्रस्तं धनुः तस्य संदेहं (विशंकां) चक्रुः ।"

रांगोली चित्रों के इतिहास का चित्रण करते हुए अब तक मैंने इसका सबसे प्राचीन प्रमाण *वरांगचरित* (ईसा की सातवीं शती) का ही दिया है। इसमें (२३, १५) विभिन्न प्रकार के भौम चित्रों की रचना के लिये (भूमिप्रदेशे नानाकृतीन् रचयां बभूवुः) पचरंगे चूर्णों (दशार्धवर्णैः चूर्णैः), फूलों (पुष्पैः) और तंदुल-कणों (तण्डुलैः) के प्रयोग का उल्लेख है। ईसा की सातवीं शती के इस उल्लेख का संबंध वात्स्यायन (ईसवी सन् ५०-४०० के बीच) के *कामसूत्र* में उल्लिखित ६४ कलाओं से स्थापित किया जा सकता है। *कामसूत्र* में इस कला को 'तण्डुलकुसुमबलिविकाराः' कहा गया है। (देखिए श्री केदारनाथ द्वारा संपादित *कामसूत्र*. साधारणमधिकरणम्, अध्याय ३, पृष्ठ ३२, निर्णयसागर प्रेस, सन् १९०० ई०)। टीकाकार यशोधर ने अपनी *जयमंगला* टीका में उक्त कला की व्याख्या इस प्रकार की है—

"तंडुल-कुसुम-वलिविकारा[1] इति। अखण्डतण्डुलैः नानावर्णैः सरस्वतीभवने कामदेव-भवने वा मणिकुट्टिमेषु भक्तिविकाराः। तथा कुसुमैः नानावर्णैः ग्रथितैः शिवलिंगादिपूजार्थं भक्ति-विकाराः। अत्र ग्रथनं माल्यग्रथन एवान्तर्भूतम्। भक्तिविशेषेण अवस्थानं कलान्तरम्।"

यशोधर के मत्यनुसार वात्स्यायन द्वारा वर्णित इस कला के अन्तर्गत सरस्वती ("सरस्वती नागरकाणां विद्याकलासु अपि देवता, पृष्ठ ५१।) मंदिर अथवा कामदेव-मंदिर में अनेक वर्णों के तंदुल कणों से निर्मित भूमि-रचना तथा शिवलिंग की पूजा के लिये अनेक वर्णों के फूलों से निर्मित चित्र आते हैं।

उपरि उद्धृत "तण्डुलकुसुमवलिविकाराः" की यशोधरकृत-व्याख्या को दृष्टि में रखते हुए मेरा मत है कि *रांगोली* चित्रों की प्रचलित आधुनिक रचना का मूल वात्स्यायन कथित ६४ कलाओं में से एक में स्थिर है—यद्यपि बाद में यह कला भारत के विभिन्न प्रांतों के कलाभिरुचिसंपन्न प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा अधिक विकसित और संकुल होती गई। इस कला को धर्म के साथ भी जोड़ दिया गया है। सरस्वती वा कामदेव के मंदिरों की भूमि पर अथवा शिवलिंग की पूजा के अवसर पर चित्र अंकित किए जाते थे, यह उपरि उद्धृत यशोधर के कथन से स्पष्ट है।

पचरंगे तंदुल कणों द्वारा निर्मित चित्रों के संदर्भों का उल्लेख पहले ही कर चुका हूँ। साथ ही मैंने आकाशभैरवकल्प (सन् १४००-१६०० ई०) में उल्लिखित राजाभिषेक के अवसर पर पंचवर्ण रजों (पंचवर्णरजोभिः) से निर्मित चित्रों के संदर्भों का भी उल्लेख किया है।

१—पृष्ठ ३२ की आठवीं पाद-टिप्पणी में संपादक ने लिखा है कि वृत्तिकार (भास्कर नृसिंह शास्त्री) ने 'वलिविकाराः' के स्थान पर 'वालिविकाराः' पाठ रखा है। वे इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"तण्डुलाश्च कुसुमानि च तैः वालिविकाराः कर्णभूषाविशेषरचना।" श्री केदार-नाथ ने 'वलिविकाराः' पाठ रखा है जिसकी व्याख्या यशोधर ने 'भक्ति-विकारा' के रूप में की है। भक्ति=सजावट की रेखा।

विभिन्न स्थलों से मेरे द्वारा संगृहीत *रांगोली* के इतिहास-संबंधी प्रमाणों की तिथिक्रमयुक्त तालिका इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

तिथिक्रम	संदर्भ
सन् ५०-४०० ई०	*कामसूत्र* 'तण्डुल-कुसुम-वलिविकाराः' को ६४ कलाओं में से एक मानता है।
सन् ६००-७०० ई०	*वरांग-चरित* रात्रि-बलि के अवसर पर पचरंगे चूर्णों, तंदुल-कणों, फूलों द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार के चित्रों का उल्लेख करता है।
सन् ९१५ ई०	त्रिविक्रम भट्ट अपने *नलचंपू* में एक उत्सव (विवाह-संस्कार) के अवसर पर घर के सामने बने 'रंगावलि' का उल्लेख करते हैं।
सन् ९५९ ई०	सोमदेव अपने '*यशस्तिलकचंपू*' में कर्पूर-धूलि, रत्न आदि रंगवल्ली अथवा रंगावली का उल्लेख बार बार करते हैं।
सन् १०५०ई० के पश्चात्	वादिभ सिंह अपने '*गद्य-चिंतामणि*' के 'भोजनमंडप' में अंकित 'मंगलचूर्णरेखा' का वर्णन करते हैं।
सन् १०८८-११७२ ई०	हेमचंद्र अपनी *देशीनाममाला* में 'आइप्पण' का उल्लेख करते हैं और इसकी व्यवस्था "तन्दुलपिष्टक्षीरं गृह-मण्डनम्" के रूप में करते हैं।
सन् ११०० ई०	अपरार्क बौधायन को उद्धृत करते हैं जिन्होंने (बौधायन ने) भूमि के उपलेपन के पश्चात् वृत्त आदि ज्यामितिक चित्रों का अंकन करना स्वीकार किया है।
सन् ११३० ई०	सोमेश्वर अपने *मानसोल्लास* में धूलिचित्र और रस-चित्र का उल्लेख करते हैं जो धूलियों अथवा घोल द्वारा निर्मित रंगवल्ली चित्रों के समान हैं।
सन् ११३०ई० के पश्चात्	श्रीकुमार अपने *शिल्परत्न* में भी धूलिचित्र अथवा क्षणिक चित्र का उल्लेख करते हैं।
सन् १२५० ई०	अर्हद्दास कृत *मुनिसुव्रत-काव्य* में इंद्रधनु से प्रतीत होने-वाले पाँच रंग के रत्नों से निर्मित *रांगोली* चित्रों का वर्णन है। ये चित्र 'रंगालय' के नाम से अभिहित किए गए हैं।

तिथिक्रम	संदर्भ
सन् १२५० ई०	*लीला-चरित्र* में 'रंगमालिका' और 'सडासंमार्जन' का उल्लेख है।
सन् १२७३ ई०	भास्कर भट्ट ने अपने *शिशुपाल-वध* में 'रांगवली' का उल्लेख किया है।
सन् १४००-१६५० ई०	*पारिजात* मंदिर में शिला-चूर्ण द्वारा स्वस्तिक आदि के अंकन का विधान करता है।
सन् १४००-१६०० ई०	*आकाशभैरवकल्प* अनेक बार विभिन्न धार्मिक संस्कारों के अवसर पर रंगवल्ली चित्रों के अंकन का उल्लेख करता है।
सन् १६०८-१६८२	संत रामदास अपनी *मानसपूजा* में 'सडे संमार्जनें' तथा 'रंगमाला' का उल्लेख करते हैं।
७२६-१७६४ ई०	मराठी कबि मोरोपंत अपने '*विराटपर्व*' में 'रांगोली' का उल्लेख करते हैं।
सन् १८३८ ई०	त्र्यंबक भट्ट माटे ने अपने आचारेंदु में *मार्कण्डेयपुराण* को उद्धृत किया है जिसमें भूमि के गोमयानुलेपन के पश्चात् उस पर स्वस्तिक चित्रों के अंकन का विधान है। ये *स्मृति रत्नाकर* को भी उद्धृत करते हैं जिसमें भूमि के उपलेपन का विधान है।
सन् १८९४ ई०	*बांबे गजेटियर* में रांगोली पर टिप्पणी।

मेरा विश्वास है कि उपर्युक्त प्रमाण निर्णयात्मक रूप से स्पष्ट कर देते हैं कि *रांगोली* कला का इतिहास लगभग २००० वर्ष प्राचीन है। यह इतिहास भली भाँति कम से कम इससे भी ५०० वर्ष पूर्व तक ले जाया जा सकता है। हम निश्चित रूप से यह कल्पना कर सकते हैं कि *कामसूत्र* में 'तण्डुलकुसुमवलिविकाराः' के रूप में उल्लिखित यह कला कामसूत्र से सैकड़ों वर्ष पूर्व भी परिचित थी और इसी कारण वात्स्यायन ने इसका उल्लेख ६४ कलाओं में किया है।

[भूमि पर चित्र-रचना की पद्धति उत्तर भारत में भी है। मंदिरों में विशेषतः राधाकृष्ण के मंदिरों में वर्षा ऋतु में 'साँझी' का बहुत प्रचार है। 'साँझी' के दर्शन सायंकाल ही होते हैं। अतः इसकी उत्पत्ति 'संध्या' के 'साँझ' से हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं। साँझी भूमि, जल, थाल आदि पर भी बनाई जाती हैं। इसमें भाँति भाँति के बेलबूटे, पशु-पक्षियों आदि की नाना आकृतियाँ

बनाई जाती हैं। 'जल' की साँझी अत्यधिक श्रम तथा चातुरी से बनती है। सेलखड़ी को महीन पीसकर उसे पाँच छह बार कपड़-छान करके स्थिर जल पर इस प्रकार फैलाया जाता है कि सर्वत्र समान रहे और पानी पर बराबर तैरती रहे। तदुपरांत 'चित्र का पत्ता' काटकर पानी की सतह पर रख देते हैं और उस पर रंगों को इस ढंग से भरते हैं कि सेलखड़ी पर अभीप्सित आकृतियाँ बन जायँ और रंग भी पानी में न घुलें। तत्पश्चात् पत्ता इस प्रकार उठा लेते हैं कि पानी हिलने न पाए।

हिंदी के कृष्णभक्त कवियों की रचना में साँझी के पद बहुत मिलते हैं। सोलहवीं सत्रहवीं शती के कवियों की कृतियों तक में इसका कथन है।

मंगल कार्यों के अवसर पर चौक पूरने की प्रथा भी रंगवल्ली चित्रों की सी ही है। सूरदास (संवत् १५४० के लगभग) लिखते हैं—

१—कौरनि सथिया चीततिं नव निधि। (सूर-सागर, दशम स्कंध, पद ३०, पृष्ठ ४३१, सभा संस्करण)।

२—चंदन आँगन लिपाइ, मुतियनि चौकैं पुराइ, उमँगि अँगनि आनंद सौं तूर बजावौ। वही, पद ९५, पृष्ठ ४६७।

'सथिया चीतना' (स्वस्तिक बनाना) और 'चौक पूरना' यही चीज है। आज भी विवाहादि मांगलिक कार्यों में चौक पूरने की प्रथा है। बढ़ार (वैवाहिक प्रीतिभोज) के अवसर पर आँगन में अनेकानेक रंगों के बेल-बूटे बनाने का प्रचलन है और यह 'रंगोली' नाम से प्रसिद्ध भी है।

ये सब धूलि-चित्र के उदाहरण हैं। देवोत्थानी एकादशी के अवसर पर रसचित्र बनाए जाते हैं। इनमें अनेक रंगों के घोल का प्रयोग होता है। वृत्ताकार कई बड़े बड़े चित्र बनाए जाते हैं जिनके भीतर शंख, चक्र, गदा, पद्म, तुलसी वृक्ष आदि की अनेक आकृतियाँ बनाई जाती हैं।

—संपादक।]

विद्यापति का समय

[डा० विमानबिहारी मजुमदार, एम० ए०, पी० एच० डी०, पी० आर० एस०]

सन् १८७५ ई० में श्री राजकृष्ण मुखोपाध्याय ने 'वंगदर्शन' नामक बँगला पत्रिका में कवि विद्यापति के विषय में एक लेख लिखा। उसी समय से विद्यापति के विषय में गवेषणाएँ आरंभ हुईं और तब से अब तक तिहत्तर वर्ष हो गए पर उस अमर कवि के जीवन की मुख्य घटनाओं की तिथियाँ निश्चित नहीं हो पाई हैं। सभी लेखक विद्यापति के जीवन की तिथियाँ मैथिल पंजियों के आधार पर ही निर्धारित करते हैं, किंतु उनमें परस्पर विरोधी बातों की विद्यमानता के कारण सबके काल-निर्णय तथा तथ्य-निरूपण में भिन्नता पाई जाती है, साथ ही उचित निर्णय तक पहुँचने के लिये उन पंजियों का आलोचनात्मक अध्ययन भी अपेक्षित है। श्री जान बीम्स ने 'विद्यापति का युग और उनका देश'[1] नामक लेख में मैथिल पंजियों के आधार पर जिन तिथियों का वर्णन किया है उनकी तालिका निम्नलिखित है—

नाम	राजतिलक	शासन-काल
देवसिंह	१३८५ ई०	६१ वर्ष
शिवसिंह	१४४६ ई०	३॥ वर्ष
रानी पद्मावती	१४५० ई०	१॥ वर्ष
रानी लक्ष्मीदेवी	१४५२ ई०	९ वर्ष
रानी विश्वासदेवी	१४६१ ई०	१२ वर्ष
नरसिंह	१४७३ ई०	

उक्त लेखक के अनुसार राजा शिवसिंह की तीन रानियाँ थीं—(१) पद्मावती, (२) लक्ष्मीदेवी और (३) विश्वासदेवी; तीनों रानियों ने बारी बारी से राज्य किया। उनके बाद राजा शिवसिंह के चचेरे भाई राजा नरसिंह शासनारूढ़ हुए। कवि विद्यापति के वास्तविक पदों का आलोचनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उन्होंने राजा शिवसिंह की छह रानियों का उल्लेख किया है—(१) लखिमा, (२) सुखमा, (३) रूपिणी, (४) मेधा, (५) मधुमती और (६) सुरमा।[2] इनमें पद्मावती और विश्वासदेवी दोनों का उल्लेख नहीं है। श्री ग्रियर्सन को भी मिथिला के मौखिक इतिवृत्त से

१—इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग ४, अक्टूबर १८७५, पृष्ठ २९९।

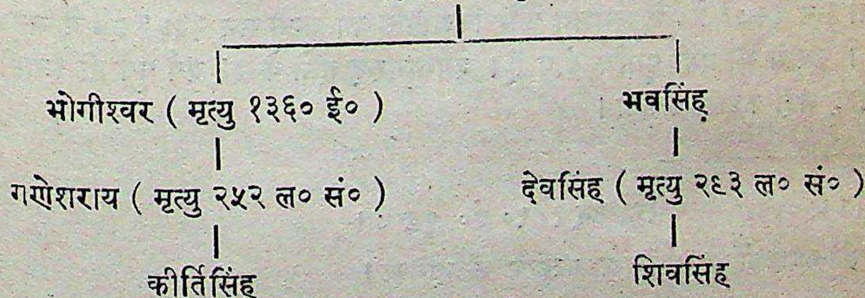
२—श्री विमानबिहारी मजुमदारकृत 'भनिताज इन विद्यापति'ज पदज' नामक निबंध, जर्नल ऑव् दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २८, पृष्ठ ४०६-४३०, दिसंबर सन् १९४२ ई०।

पता चला था कि विश्वासदेवी राजा शिवसिंह की रानियों में से एक थीं[1], किंतु कवि ने अपनी 'शंभु-वाक्यावलि' और 'गंगावाक्यावलि' नामक रचनाओं में स्पष्ट लिखा है कि विश्वासदेवी राजा शिवसिंह की नहीं बल्कि उनके भाई पद्मसिंह की रानी थीं। इन बातों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री जान बीम्स ने रानी विश्वासदेवी को राजा शिवसिंह की रानी मान कर भूल की है और साथ ही उन्हें 'पद्म' शब्द से रानी पद्मावती का व्यर्थ भ्रम हुआ है। वह शिवसिंह के भ्राता पद्मसिंह का बोधक है।

श्री ग्रियर्सन ने स्वनिबंध 'विद्यापति और उनके समकालीन' में श्री अयोध्याप्रसाद के उर्दू में लिखे 'दरभंगा का इतिहास' नामक पुस्तक से निम्नलिखित तिथियाँ उद्धृत की हैं[2]—

नाम	राजतिलक-समय
भवसिंह	१३४८ ई०
देवसिंह	१३८५ ई०
शिवसिंह	१४४६ ई०
लखिमादेवी	१४४९ ई०
विश्वासदेवी	१४५८ ई०
द्रव्यनारायण उपनाम नरसिंह देव	१४७० ई०
हृदयनारायण उपनाम धीरसिंह	१४७१ ई०
हरिनारायण उपनाम भैरवसिंह	१५०६ ई०

वहीं उन्होंने सुगौना-वंश की वंशावली भी मैथिल पंजियों के आधार पर प्रकाशित की है। किंतु उसमें भोगीश्वर की किसी संतान का उल्लेख नहीं किया है। इस त्रुटि का अनुभव उन्हें उस समय हुआ जब उन्होंने 'कीर्तिलता' के उद्धरण दरभंगा से सन् १८८८ ई० में प्रकाशित 'पुरुष-परीक्षा' की भूमिका में पढ़े। तत्पश्चात् उन्होंने तिथियों और वंशावली का निम्नलिखित संशोधित रूप प्रस्तुत किया था[3]—



१—क्रेस्टेमैथी, सन् १८८१-८२ ई०।

२—देखिए 'विद्यापति ऐंड हिज कंटेंपोरेरीज' नामक निबंध, इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग १४, जुलाई सन् १८८५ ई०, पृष्ठ १८७ की पादटिप्पणी।

३—'ऑन सम मिडिविअल किंग्स ऑव् मिथिला' नामक निबंध, वही, भाग २८, मार्च १८९९ ई०, पृष्ठ ५७।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि श्री ग्रियर्सन ने सन् ११०६ ई० को लक्ष्मण संवत् का आदि वर्ष माना है किंतु श्री कीलहार्न[1] ने दश वर्ष बाद से अर्थात् सन् १११६ ई० से लक्ष्मण संवत् का आरंभ होना सिद्ध किया है। अन्य विद्वानों ने भी श्री कीलहार्न का ही मत स्वीकार किया है।

कीर्तिलता की रचना-तिथि

श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने लिखा है कि २४३ ल० सं० को राजा शिवसिंह का जन्म-संवत् मानने से हम यह मान सकते हैं कि कवि विद्यापति का जन्म २४१ ल० सं० के लगभग हुआ होगा।[2] इस अनुमान को बाद के बहुत से विद्वानों ने ऐतिहासिक सत्य माना है। डा० बाबूराम सक्सेना[3] तथा डा० उमेश मिश्र ने[4] भी यही माना है कि विद्यापति का जन्म २४१ ल० सं० (सन् १३६० ई०) में हुआ था और उन्होंने 'कीर्तिलता' की रचना बीस वर्ष की वय में की थी।

विद्यापति ने इस रचना में कीर्तिसिंह द्वारा अपने पिता की हत्या का बदला लिया जाने तथा तत्पश्चात् जौनपुर के सुलतान इब्राहीम की सहायता से अपना राज्य वापस पाने का वर्णन किया है। 'कीर्तिलता' में इब्राहीम को बादशाह या सम्राट् कहा गया है। यह ऐतिहासिक सत्य है कि इब्राहीमशाह जौनपुर की गद्दी पर सन् १४०२ ई० में बैठा।[5] यदि विद्यापति ने 'कीर्तिलता' की रचना सन् १३८० ई० में की तो उस समय उनका इब्राहीमशाह को जौनपुर का शासक मानना अप्रसिद्ध हो जाता है। सन् १४०२ ई० में इब्राहीमशाह का शासनारूढ़ होना भी ध्रुव सत्य है और राजा कीर्तिसिंह का इब्राहीम-शाह की सहायता से मिथिला का राज्य पाना भी वैसे ही निश्चित है। अंतः यह मानना ही पड़ेगा कि 'कीर्तिलता' की रचना सन् १४०२ ई० के पश्चात् ही हुई, इससे पूर्व सन् १३८० ई० में नहीं जैसा कि डा० बाबूराम सक्सेना तथा डा० उमेश मिश्र ने माना है। श्री शिवनंदन ठाकुर ने भी इसी प्रकार की भ्रमात्मक बातें लिखी हैं। उन्होंने 'कीर्तिलता' की रचना सन् १३७१ ई० के लगभग और विद्यापति का जन्म सन् १३५१ ई० के लगभग माना है। इसमें भी वही पूर्वोक्त दोष है। शासनारूढ़ होने के ३१ वर्ष पूर्व ही इब्राहीम-शाह सम्राट् नहीं कहला सकता।

१—इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग १९, सन् १८९० ई०, पृष्ठ ७।

२—विद्यापति-पदावली, प्रथम बँगला संस्करण की भूमिका।

३—कीर्तिलता, प्रथम संस्करण (काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित) की भूमिका, पृष्ठ ८।

४—विद्यापति ठाकुर, प्रथम संस्करण (सन् १९३७ ई०), पृष्ठ १६।

५—कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव् इंडिया, भाग ३, पृष्ठ २५१। [देखिए हिस्ट्री ऑव् इंडिया ऐज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, भाग ४, पृष्ठ ३८। —संपादक।]

६—देखिए महाकवि विद्यापति, पुस्तक भंडार लहेरिया सराय से प्रकाशित।

'कीर्तिलता' में लिखा है कि गणेशराय की हत्या की गई।

"लक्खनसेना नरेशा लीहिया जावे पक्खा पनचावे"।[1]

महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री ने 'जावे' का अर्थ 'जब' तथा 'पक्खा पनचावे' का अर्थ २५२ ल० सं० किया है। डा० जायसवाल ने 'जावे' का अर्थ '५२' किया है और उसे 'पक्खा पनचावे' अर्थात् २५२ में जोड़ दिया है। इस प्रकार जायसवालजी के कथनानुसार गणेशराय का मृत्यु-संवत् ३०४ ल० सं० (सन् १४२३ ई०) ठहरता है[2] जो ठीक नहीं प्रतीत होता। ३०४ ल० सं० को गणेशराय का मृत्यु-संवत् मानने से शिवसिंह २९१ ल० सं० में महाराज नहीं कहे जा सकते। २९१ ल० सं० में विद्यापति की आज्ञा से 'काव्यप्रकाश-विवेक'[3] नामक हस्तलेख की प्रतिलिपि शिवसिंह के शासन-काल में की गई थी। इसलिये २५२ ल० सं० को ही गणेशराय का हत्या-काल मानना चाहिए।

गणेशराय की मृत्यु के पश्चात् एक पीढ़ी तक मिथिला में अराजकता फैली हुई थी। कवि विद्यापति ने लिखा है—"राजा (गणेशराय) की हत्या के उपरांत युद्धभूमि में कोलाहल होने लगा और चारों ओर शोक छा गया। ठाकुर लोग ठक हो गए। बड़े बड़े महलों पर चोरों का अधिकार हो गया। दासों ने अपने स्वामियों को पकड़ लिया। धर्म चला गया और धंधे डूब गए। दुष्टों ने सज्जनों पर विजय पाई। कोई विचार करनेवाला नहीं रहा। छोटी और बड़ी जातियों में विवाह-संबंध होने लगा। साहित्यिकों का ह्रास हो गया। कविगण भिक्षुक हो गए। जब राजा गणेशराय का स्वर्गवास हुआ— तिरहुत से सद्गुणों का लोप हो गया।"[4] यह अराजकता कई वर्षों तक विद्यमान थी। गणेशराय की मृत्यु के ३१ वर्ष के उपरांत इब्राहीमशाह जौनपुर की गद्दी पर बैठा। तब तक गणेशराय के पुत्र कीर्तिसिंह भी पूर्ण वयस्क हो चुके थे। अतः उन्होंने जौनपुर जाकर इब्राहीमशाह से सहायता माँगी और उसी की सहायता से तिरहुत का राज्य वापस पाया। इस प्रकार गणेशराय का मृत्यु-काल सन् १३७१ ई० और इब्राहीम शाह के राजतिलक के समय सन् १४०२ ई० में कोई असामंजस्य नहीं प्रतीत होता।

'कीर्त्तिलता' कवि की प्रथम कृति नहीं

बहुत से विद्वानों का मत है कि 'कीर्तिलता' विद्यापति की प्रथम कृति है और अवहट्ट भाषा में उसकी रचना कर चुकने के पश्चात् उन्होंने मैथिली भाषा अपनाई।' इसके साथ ही उन लोगों का यह भी कहना है कि विद्यापति ने बंगाल के सुलतान गयासुद्दीन को जिनकी मृत्यु सन् १३७३ ई० में हुई थी[5] एक पद्य लिखकर भेंट किया

१—कीर्तिलता, द्वितीय पल्लव, छंद १।
२—दी जर्नल ऑव् बिहार ऍंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १३, पृष्ठ २९९।
३—भारत सरकार की पांडुलिपि, 'काव्यप्रकाश विवेक' फोलिओ ११७।
४—मिलाइए कीर्तिलता, द्वितीय पल्लव, पृष्ठ १६-१९ (सभा का संस्करण)।—संपादक।
५—श्री नगेंद्रनाथ गुप्त कृत विद्यापति ठाकुर की पदावली के पद्य सं० २६८ की टिप्पणी।

था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'कीर्तिलता' की रचना के पूर्व भी विद्यापति काव्य-रचना करते थे तभी तो उन्होंने एक पद्य उक्त सुलतान को समर्पित किया था। डा० भट्टसाली की सिक्का-संबंधी खोजों से यह ज्ञात होता है कि सुलतान गयासुद्दीन की मृत्यु सन् १३७३ ई० में न होकर सन् १४१० ई० के पश्चात् ही हुई होगी। क्योंकि उनके बहुत से सिक्के ८१२ हि० सं० और ८१३ हि० सं० के भी ढले हुए पाए गए हैं। डा० भट्टसाली ही आगे कहते हैं कि गयासुद्दीन अपने पिता सिकंदर की हत्या कर सन् १३६२ ई० के लगभग बंगाल के सुलतान हुए।[1] सुलतान गयासुद्दीन विद्या-प्रेमी थे। उन्होंने फारस के प्रसिद्ध कवि हाफिज को बंगाल आने के लिये निमंत्रित किया था, किंतु कवि ने यह निमंत्रण स्वीकार न किया और सुलतान को एक कविता लिखकर भेंट की। अतः विद्यापति ने भी सुलतान गयासुद्दीन के विद्या-प्रेमी होने के कारण उन्हें कविता लिखकर भेंट की हो तो हो सकता है। उस समय तिरहुत में अपना कोई राजा नहीं था। इस कारण भी कवि विद्यापति ने ऐसा किया हो तो भी संभव है। किंतु कीर्तिसिंह के गद्दी पर बैठने के पश्चात् इसकी आवश्यकता न रही और वे अपने नृपति के ही लिये कविता लिखने लगे। यदि यह निष्कर्ष सत्य मान लिया जाय तो 'कीर्तिलता' विद्यापति की पहली रचना नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसके पूर्व भी इनके कविता करने का प्रमाण मिलता है। 'कीर्तिलता' को ही ध्यान से पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना के पूर्व ही कवि के रूप में विद्यापति की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। कवि ने 'कीर्तिलता' के प्रारंभ में लिखा है--

बालचंद विज्जावइ भासा,
दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर-शिर सोहइ,
ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ॥[2]

कोई भी कवि इतने आत्मविश्वास के साथ अपनी प्रथम रचना में ऐसी शब्दावली नहीं लिख सकता। अतः यह निश्चय है कि कवि ने इसके पूर्व भी रचनाएँ की थीं।

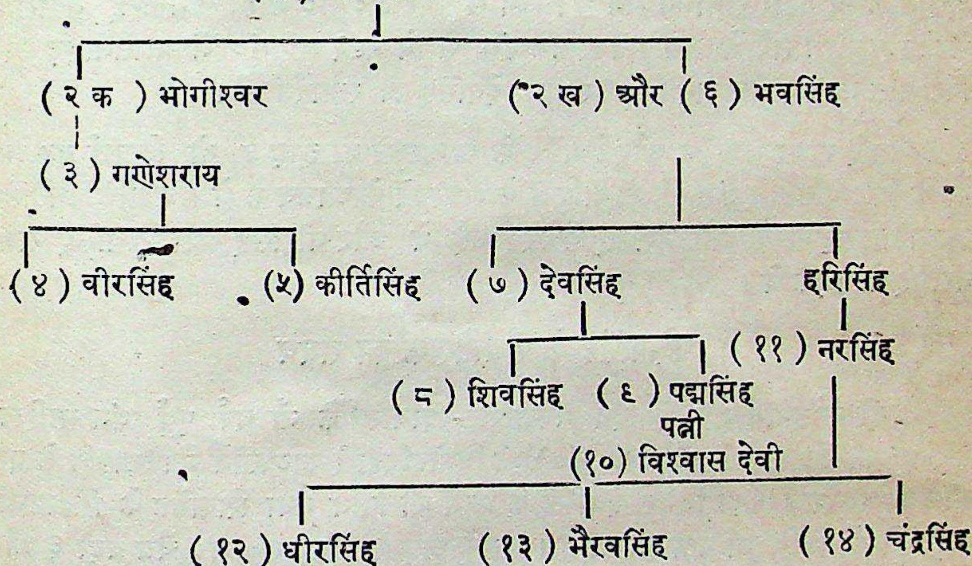
विद्यापति के आश्रयदाता

विद्यापति ने अपने आश्रयदाताओं का भी उल्लेख किया है। 'कीर्तिलता' में उन्होंने कामेश्वर, उनके पुत्र भोगीशराय, उनके पुत्र गणेशराय और गणेशराय के तीनों पुत्र वीरसिंह, कीर्तिसिंह तथा राजसिंह का वर्णन किया है। 'पुरुष-परीक्षा' में उन्होंने भवदेव, उनके पुत्र देवसिंह तथा देवसिंह के पुत्र शिवसिंह का उल्लेख किया है। 'शंभुवाक्यावलि' या 'सैव-सरवस-सार' नामक पुस्तक में उन्होंने भवसिंह, उनके पुत्र देवसिंह, देवसिंह के पुत्र शिवसिंह और शिवसिंह के भाई पदमसिंह और पदमसिंह की पत्नी विश्वासदेवी के नाम लिए हैं। 'गंगा-वाक्यावलि' में भी विश्वास देवी का नाम,

१—डा० एम० के० भट्टसालीकृत क्वाएंस ऐंड क्रोनोलॉजी ऑव् अर्ली सुलतान्स ऑव् बंगाल।
२—कीर्तिलता, प्रथम पल्लव, पृष्ठ ४, (सभा संस्करण)। —संपादक।

आया है। 'विभाग-सार' में भवेश, इनके लड़के हरिसिंह और हरिसिंह के पुत्र दर्पनारायण का उल्लेख है। 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में नरसिंह और उनके तीनों पुत्र धीरसिंह, भैरवसिंह और चंद्रसिंह का वर्णन है। इस प्रकार विद्यापति ने अपने ग्रंथों में कामेश्वर-परिवार के तेरह पुरुषों एवं एक स्त्री का उल्लेख किया है, किंतु उन्होंने भवसिंह और कामेश्वर या नरसिंह और शिवसिंह के आपसी संबंध का उल्लेख कहीं नहीं किया है।

विद्यापति की पुस्तकों तथा स्थानीय इतिवृत्तों के आधार पर उन लोगों का वंश-वृक्ष इस प्रकार बनता है—



'पुरुषपरीक्षा' में शिवसिंह के पितामह का नाम भवदेवसिंह लिखा है, किंतु 'शंभुवाक्यावलि' में भवसिंह। दोनों नाम एक ही व्यक्ति के जान पड़ते हैं। जायसवालजी के कथनानुसार कंडाहा नामक स्थान पर प्राप्त राजा नरसिंह देव के ताम्र-लेख में[1] उनके पिता के नाम का पहला अक्षर लुप्त है। अन्य पांडुलिपियों से ज्ञात होता है कि 'विभाग-सार' में नरसिंह के पिता का नाम हरिसिंह लिखा है। मसरूमिश्र ने स्वग्रंथ 'विवाद-चंद्र' में यही नाम लिखा है। यही नहीं पंजियों में भी हरिसिंह का उल्लेख हुआ है। हरिसिंह कभी शासनारूढ़ नहीं हुए, क्योंकि विद्यापति ने 'विभागसार' में 'राजा' की उपाधि से भवेश और दर्पनारायण को संबोधित किया है, हरिसिंह को नहीं। ठीक इसी प्रकार कंडाहा के ताम्र-लेख में भवसिंह और नरसिंह को राजा कहा गया है और हरिसिंह को विचारक एवं वीर।

विद्यापति के ग्रंथों और गीतों में सुगौना-वंश के कीर्तिसिंह से लेकर भैरवसिंह तक नौ संरक्षकों का उल्लेख हुआ है। विद्यापति के लिये यह सौभाग्य की ही बात थी कि

१—जर्नल ऑव् बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २०, सन् १९३४ ई०, पृष्ठ १३।

उन्हें एक ही वंश के इतने राजाओं का संरक्षण प्राप्त हुआ। ऐसा सौभाग्य विश्व के अन्य किसी कवि को शायद ही कभी प्राप्त हुआ हो। वंशावली देखने से पता चलता है कि उन्होंने चार पीढ़ियों के राजाओं के लिये रचनाएँ कीं। कीर्तिसिंह सन् १४०२ ई० के पश्चात् ही राजगद्दी पर बैठे और शिवसिंह का राजतिलक निश्चित रूप से सन् १४१२ ई० में हुआ। अतः सन् १४०२ ई० और सन् १४१२ ई० के बीच में ही कीर्तिसिंह, भवसिंह और देवसिंह ने राज्य किया। दस वर्ष के इस अल्पकाल में तीन राजाओं का होना कोई असंभव बात नहीं। गद्दी पर बैठने के समय भवसिंह बहुत वृद्ध हो चुके होंगे। क्योंकि वे अपने भाई भोगीश्वर के पौत्र कीर्तिसिंह के पश्चात् गद्दी पर बैठे। उनके पुत्र देवसिंह के विषय में भी यही बात है। अतः शिवसिंह अपने पिता के जीवन-काल में ही शासन की बागडोर सँभालने लगे थे। इसी से २९१ ल० सं० में ही लोग उन्हें महाराजा कहकर पुकारने लगे थे, यद्यपि वैधानिक ढंग से वे २९३ ल० सं० में शासनारूढ़ हुए। विद्यापति ने चार कविताएँ लिखकर राजा देवसिंह को समर्पित कीं।

यदि राजा भवसिंह और देवसिंह के अल्पकाल को छोड़ दें तो दिखाई यह देता है कि विद्यापति इस वंश की दो पीढ़ियों के राजाओं के आश्रय में थे। क्योंकि कीर्तिसिंह शिवसिंह, पद्मसिंह और नरसिंह चचेरे भाई थे और धीरसिंह तथा भैरवसिंह राजा नरसिंह के लड़के थे।

शिवसिंह के राजतिलक का समय

श्री नगेंद्रनाथ गुप्त संपादित 'विद्यापति-पदावलि' के नौ वर्ष पूर्व 'बंग साहित्य-परिषद्' की पत्रिका में (१३०७ बं० सं०) श्री विनोदबिहारी काव्यतीर्थ ने विद्यापति के एक गीत का प्रकाशन किया जिससे देवसिंह के मरने की तिथि तथा शिवसिंह के सिंहासनारूढ़ होने की तिथि का पता चलता है। इसके अनुसार २९३ ल० सं० चैत्र बदी ६ और १३२४ शक सं० को देवसिंह की मृत्यु हुई[1] और तत्पश्चात् मुसलमानों का आक्रमण रोककर शिवसिंह ने अपने पिता का श्राद्ध किया। श्री मनोमोहन चक्रवर्ती ने ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार निश्चय किया है कि २९३ की ल० सं० की चैत्र बदी ६ वृहस्पतिवार को १३३४ श० सं० में पड़ती है, १३२४ शक सं० नहीं।[2] संभवतः यह गलती 'कर' शब्द को 'पुर' पढ़ लेने से ही हुई है। श्री कीलहार्न और जायसवालजी के अनुसार भी २९३ ल० सं० में शक संवत् १३३४ ही था, १३२४ नहीं। इस पद्य को प्रामाणिक स्वीकार कर लेने पर शिवसिंह के सिंहासनारूढ़ होने की तिथि २३ मार्च सन् १४१३ ई० ठहरती है।

मिथिला के इतिवृत्त से पता चलता है कि राजा शिवसिंह ने तीन वर्ष नौ मास तक राज्य किया। राजतिलक के समय में इसे जोड़ देने से उनका शासन-काल सन्

१—मिलाइए श्री उमेश मिश्र कृत विद्यापति ठाकुर, प्रथम संस्करण (सन् १९३७ ई०) पृष्ठ २०१।
२—'मिथिला ड्युरिंग प्रीमुगल पीरिअड' नामक निबंध, जर्नल ऑव् दि एशियाटिक सोसाइटी ऑव् बंगाल, भाग ११, नवंबर-दिसंबर सन् १९१५ ई, पृष्ठ ४१९।

१४१६ ई० के अंत तक जाता है। विद्यापति ने अपनी पुस्तक 'लिखनावलि' की रचना पुरादित्य के संरक्षण में की। पुरादित्य ने सप्तरी के शासक अर्जुन की हत्या की। विद्यापति[1] ने अपने पाँच गीतों में अर्जुन का उल्लेख अपने संरक्षक की भाँति किया है। श्री चंद्र झा ने एक ऐसे इतिवृत्त का उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि बादशाह के द्वारा शिवसिंह के पकड़े जाने के बाद विद्यापति और लखिमा देवी ने नेपाल में सप्तरी के शासक के यहाँ जाकर शरण ली।[1] 'लिखनावलि' में पत्रों का एक संग्रह भी है जिनमें से अधिकांश २९९ ल० सं० अर्थात् सन् १४१८ ई० के लिखे हुए हैं। यही समय विद्यापति के प्रवास का भी है।

विद्यापति ने स्वयं ही भागवत पुराण की एक प्रतिलिपि तैयार की थी जिसके अंत में ३०९ ल० सं० (सन् १४२८ ई०) लिखा हुआ है। विद्यापति के जीवन में यह एक निश्चित तिथि है। विद्यापति ने नरसिंह दर्पनारायण की संरक्षता में 'विभाग-सार' की रचना की थी। जायसवालजी को इस राजा का एक ताम्र-लेख भागलपुर जिले के मधुपुरा सब-डिवीजन के कंडाहा[2] नामक स्थान पर मिला था। लेख की तिथि शक संवत् में इस प्रकार दी हुई है—"सार अस्व-मदन"। 'सार' का अर्थ पाँच, 'अस्व' का अर्थ सात और 'मदन' का अर्थ तेरह अर्थात् शक सं० १३७५ तदनुसार सन् १४५३ ई० हुआ। 'सेतुदर्पणी' और 'महाभारत' के कर्ण पर्व[3] की दो प्रतियाँ क्रमशः ३२१ ल० सं० और ३२७ ल० सं० की और मिली हैं। इन दोनों हस्तलेखों में राजा नरसिंह के पुत्र धीरसिंह के राज्य करने का वर्णन है। जायसवालजी ने सोचा था कि यदि नरसिंह के पुत्र ३२१ ल० सं० में राज्य कर रहे थे, तो उनके पिता का १३ साल बाद ३३४ ल० सं० में राज्य करना संभव नहीं। इसलिये उन्होंने इस प्रसंग में 'अंकानां वामतो गतिः' का खंडन किया।

जिस प्रकार राजा शिवसिंह को विद्यापति ने उनके पिता के जीवन-काल में ही राजा कहा है, ठीक उसी प्रकार धीरसिंह का भी अपने पिता नरसिंह के जीवन-काल में ही महाराजा कहा जाना संभव है। 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' के आरंभ में उल्लिखित पंक्तियों से इसकी पुष्टि होती है। इस पुस्तक को सभी लेखक विद्यापति की अंतिम रचना मानते हैं। इसके तीसरे पद्य में नरसिंह देव का उल्लेख वर्तमान काल में किया गया है। इसी आधार पर श्री शारदाचरण मित्र ने 'विद्यापति पदावली'[4] की भूमिका में लिखा है कि 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' राजा नरसिंह देव के शासन-काल में रची गई, किंतु बाद को खोजों से यह स्पष्ट हो गया है कि इसकी रचना धीरसिंह के ही शासन-काल में हुई थी।[5]

१—देखिए पुरुष-परीक्षा की भूमिका।

२—जर्नल ऑव् दि बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग २०, पृष्ठ १५-१९।

३—वही भाग १०, पृष्ठ ४२-४३।

४—श्री शारदाचरण मित्र संपादित विद्यापति-पदावलि, १२८५-७ बं० सं०।

५—मिथिला की पांडुलिपियों की सूची, भाग १, पृष्ठ ९०।

४

कंडाहा ताम्रलेख की तिथि ठीक मान लेने पर यह कहा जा सकता है कि विद्यापति कम से कम सन् १४५३ ई० तक अवश्य जीवित थे। श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने एक पद्य प्रकाशित किया है जिसमें विद्यापति कहते हैं कि मैंने शिवसिंह के मरने के बत्तीस साल बाद उन्हें स्वप्न में देखा।[१] इसी के आधार पर वे विद्यापति को कम से कम सन् १४४८ ई० तक जीवित मानते हैं। श्री शिवनंदन ठाकुर ने इस पद्य की प्रामाणिकता में विश्वास किया है और यह प्रतिपादित किया है कि इस स्वप्न के आठ महीने के भीतर ही विद्यापति इस लोक से प्रयाण कर गए।

सन् १४४८ ई० में मृत्यु मानकर श्री नगेंद्रनाथ गुप्त पद्य सं० ३४, ४४ और ४८४ की स्वलिखित टिप्पणियों का स्वतः ही खंडन कर देते हैं। उनके संकलित पद्य सं० ४८४[२] में राजा हुसेनशाह का उल्लेख हुआ है जिसे वे बंगाल का पठान सुलतान बतलाते हैं। हुसेनशाह बंगाल की गद्दी पर सन् १४९२-९३ के पूर्व कदापि नहीं बैठा था। श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने पद्य सं० ३४ और ४४ की अपनी टिप्पणियों में लिखा है कि विद्यापति हुसेनशाह के पुत्र नसरतशाह के शासन-काल में भी जीवित थे। यह असंभव है। क्योंकि ऐसा मानने से विद्यापति की आयु कम से कम १५४ वर्ष की माननी पड़ेगी जो गुप्त महोदय की भूमिका के ठीक विपरीत है जिसमें इन्होंने विद्यापति की आयु ९० वर्ष की मानी है। उनके द्वारा संपादित पद्यसंख्या ३४ में कविशेखर की एक भनिता (छाप) है। लोचन कवि विद्यापति को ही कविशेखर मानते हैं। किंतु विद्यापति के और किसी भी वास्तविक पद्य में उनकी उपाधि कविशेखर नहीं मिलती। इस पद्य (सं० ३४) में राय नसरत-शाह का नाम आया है। संभवतः यह व्यक्ति हुसेनशाह का पुत्र नसरतशाह ही है जो विद्यापति की मृत्यु के पचास वर्ष बाद गद्दी पर बैठा।[३] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मतानुसार इस पद्य के कर्ता कविशेखर रायशेखर ही हैं।[४] पद्यसंख्या ४४ की टिप्पणी में भी गुप्त महोदय ने इस भनिता की प्रामाणिकता का समर्थन किया है। यह पद्य उन्हें बँगला के संग्रह-ग्रंथों में मिला है। यदि इस पद्य को विद्यापति की रचना मान लें तो नासिरशाह को नासिर खाँ मानना पड़ेगा जिसने सन् १४२२ ई० से लेकर सन् १४५९ ई० तक बंगाल में राज्य किया। नासिर खाँ छंदानुरोध से नासिरशाह हो सकता है, किंतु राय नसरत नहीं।

१—देखिए श्री उमेश मिश्रकृत विद्यापति ठाकुर, पृष्ठ ३७ पर उद्धृत पद। —संपादक।

२—श्री नगेंद्रनाथ गुप्त ने इस पद्य को सत्रहवीं शती के लोचन कवि द्वारा संपादित 'रागतरंगिणी' पृष्ठ ९७ से लिया है जिसमें उस पद्य के रचयिता का नाम 'यशोधर नव कविशेखर' लिखा हुआ है।

३—देखिए श्री एन० बी० सान्यालकृत 'डेट ऑव् दि रेन ऑव् नासिरुद्दीन नसरतशाह, सुल्तान ऑव् बंगाल' नामक निबंध, दि इंडियन हिस्टॉरिकल कार्टर्ली, भाग २३, संख्या १, सन् १९४७ ई०, पृष्ठ ४७।

४—कीर्तिलता की भूमिका, पृष्ठ २८।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता', 'कीर्ति पताका', 'भू-परिक्रमा' और 'पुरुष-परीक्षा' को छोड़कर शेष रचनाएँ शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात् ही प्रस्तुत की हैं, किंतु उनके थोड़े ही पद्य ऐसे मिलते हैं जिनमें शिवसिंह के बाद के वंशजों के नाम आए हों। श्री शिवनंदन ठाकुर द्वारा संगृहीत पद्यों में से केवल एक हीं में विश्वास-देवी के पति पद्मसिंह का उल्लेख है। यह पद्य श्री नगेंद्रनाथ गुप्त के संग्रह में नहीं है। 'राग-तरंगिणी' के एक पद्य में "कंस-दलन-नारायण-सुंदर" का ही उल्लेख है। संभवतः इस विशेषण का प्रयोग धीरसिंह के लिये किया गया है। विद्यापति ने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' में धीरसिंह को "कंस-दलन-प्रत्यक्ष नारायण" कहा है। कुछ पद्यों में राघवसिंह और रुद्रसिंह का भी उल्लेख है, किंतु इनकी प्रामाणिकता में संदेह है। क्योंकि ये पद्य हाल ही में मौखिक इतिवृत्तों से संकलित किए गए हैं, किसी प्राचीन संग्रह-ग्रंथ से नहीं। विद्यापति ने किसी भी पद्य में राजा नरसिंह, धीरसिंह और भैरवसिंह का उल्लेख नाम लेकर नहीं किया है। हो सकता है कि राजा शिवसिंह की मृत्यु के पश्चात् विद्यापति शृंगार और नरकाव्य से मुख मोड़कर विद्वत्तापूर्ण शास्त्रों की रचनाओं की ओर उन्मुख हो गए हों।

संक्षेप में विद्यापति का साहित्यिक जीवन कीर्तिलता के बहुत पहले आरंभ नहीं हुआ था। कीर्तिलता की रचना सन् १४०४ या १४०५ ई० के लगभग हुई। उनकी अंतिम रचना 'दुर्गाभक्ति तरंगिणी' राजा नरसिंह देव के शासन-काल में प्रस्तुत हुई। राजा नरसिंह देव उस समय तक काफी बूढ़े हो गए थे। वे कम से कम सन् १४५३ ई० तक अवश्य ही विद्यमान थे। उनके सामने १४४० ई० और सन् १४४७ ई० में ही उनके पुत्र धीरसिंह महाराजा कहे जाने लगे थे। जहाँ तक साहित्यिक कार्यों का संबंध है विद्यापति कवि और विद्वान् के रूप में पंद्रहवीं शती के प्रथम अर्धभाग में फूले-फले।

वत्सराज उदयन और उसका कौटुंबिक इतिहास

[श्री नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी एम० ए०]

यह बात निर्विवाद है कि भारतीय साहित्य का प्रख्यात नायक वत्सराज उदयन चंद्रवंश में उत्पन्न हुआ था। पुराण हस्तिनापुर में प्रतिष्ठित पुरुवंश से उसका संबंध बतलाते हैं। पौरव विचक्षु के पश्चात् उदयन सत्रहवाँ शासक बतलाया गया है।[1] भास के नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता'[2] और हर्ष की नाटिका 'रत्नावली'[3] में उसे भरत-कुलोत्पन्न कहा गया है। जैन ग्रंथों में कहीं कहीं उसे ऋषभवंशीय भी कहा जाता है।[4] परंतु ऋषभदेव भी स्वयं चंद्रवंश में ही उत्पन्न हुए थे। इसलिये उदयन का भी चंद्रवंशीय होना स्वाभाविक ही है।

पिता और माता

पुराणों के अनुसार उदयन के पिता का नाम शतानीक था।[5] जैन ग्रंथ भी उदयन को शतानीक का ही पुत्र बतलाते हैं।[6] 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' में उदयन के पिता का नाम शतानीक ही लिखा है।[7] 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' में उसे 'शतानीक-पुत्र' और 'सहस्रानीकस्य नप्ता' कहा गया है।[8] 'धुल्वा' (विनय-पिटक का तिब्बती संस्करण) के अनुसार उदयन शतानीक-पुत्र ही था।[9] परंतु 'कथासरित्सागर'[10] और 'बृहत्कथामंजरी'[11] में उसे सहस्रानीक का पुत्र और शतानीक का पौत्र कहा है। बौद्धों के मतानुसार उदयन का जनक परंतप था।[12] अब हम इन विभिन्न प्रमाणों पर विचार करेंगे।

अधिकतर ग्रंथ उदयन को शतानीक-पुत्र मानने के पक्ष में हैं। पुरुवंश का यह शतानीक द्वितीय था। 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' उदयन को शतानीक का

१—'अर्ली हिस्ट्री ऑव् कौशांबी', पृष्ठ ११।
२—'भारतानां कुले जातो ......।'—अंक ६, श्लोक १६।
३—'किमिदमकारणमेव भरतकुलं सशंयमारोपितम्।'—अंक ४, सोलहवें श्लोक के बाद।
४—वत्सराजोदयन-प्रबंध, प्रबंध-कोष (विश्वभारती शांतिनिकेतन से प्रकाशित), पृष्ठ ८६।
५—मत्स्यपुराण ५०, ८६; भागवत २२, ३३-३४।
६—अभिधान-राजेंद्र, पृष्ठ ७८३।
७—५, ८९-९१।
८—अंक २, श्लोक ८ के पश्चात्।
९—रॉकहिलकृत लाइफ ऑव् बुद्ध, पृष्ठ १७।
१०—२, १, ११।
११—२, १, १८।
१२—धम्मपद, बुद्धघोष की टीका।

पौत्र बतलाते हैं। इसमें निम्नांकित बातें विचारणीय हैं। पुराणों के अनुसार उदयन के पूर्ववर्ती राजाओं में सहस्रानीक नामक कोई राजा नहीं है। 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' का यह नया आविष्कार मालूम पड़ता है। संभवतः भास ने अपने 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' में यह नाम इन्हीं ग्रंथों से लिया है। दूसरे जैसा कि हम आगे देखेंगे उदयन की माता का नाम मृगावती सर्वथा मान्य है। उपर्युक्त दोनों ग्रंथों का भी इस नाम से कोई विरोध नहीं है। तीसरे जैसा कि लॉकोत ने बतलाया है 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' के लेखक सोमदेव और क्षेमेंद्र ने स्वतंत्रतया परंतु एक ही मूल स्रोत से अपने अपने ग्रंथों के लिये विषय चुने हैं।[1] ऐसी अवस्था में मूल पाठ में अशुद्धि रह जाने से इन दोनों पुस्तकों में भी उस अशुद्धि का होना स्वाभाविक ही है। 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह' का समग्र पर्यालोचन करने पर कहा जा सकता है कि उसकी कथा-वस्तु 'बृहत्कथा' की किसी भिन्न प्रति से अधिक छानबीन के साथ ली गई है। साथ ही साथ शतानीक और सहस्रानीक ये दोनों नाम बहुत कुछ एक से हैं। अतएव इनमें भ्रम का होना विशेष आश्चर्य की बात नहीं।

बौद्ध ग्रंथों के परंतप के विषय में भी विरोध नहीं है। क्योंकि शतानीक को ही परंतप शतानीक भी कहते थे। अथवा यों कहा जाय कि 'परंतप' शतानीक का ही दूसरा नाम उसी प्रकार था[2] जिस प्रकार बिंबसार का श्रेणिक और अजातशत्रु का कुणिक। ऐसी अवस्था में बुद्धघोष का परंतप को उदयन का पिता कहना युक्ति-संगत ही है।

इस प्रकार उदयन के पिता का नाम निश्चित होने के उपरांत उसकी माता के नाम का भी विचार करना चाहिए। 'कथासरित्सागर' के अनुसार उसकी माता का नाम मृगावती था।[3] जैन ग्रंथ भी इस बात से सहमत हैं।[4] संस्कृत ग्रंथ अधिकतर इस विषय में मौन हैं।

यद्यपि नाम विशेष में 'कथासरित्सागर' और जैन ग्रंथ दोनों का मतैक्य है फिर भी उसके कुल के विषय में दोनों में बड़ा भारी मतभेद है। 'कथासरित्सागर' के अनुसार मृगावती अयोध्याधीश कृतवर्मन् की पुत्री थी।[5] भास अपने नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' में उदयन को वैदेही-पुत्र कहता है[6] अर्थात् इससे मृगावती का विदेहराज-पुत्री होना सिद्ध होता है। इस समस्या को सुलझाने में जैन-ग्रंथों से बहुत कुछ सहायता मिलती है। जैन ग्रंथों से इस बात का पता लगता है कि लिच्छवियों के नायक चेटक की सात कन्याएँ थीं। उनमें से एक जैन भिक्षुणी हो गई और शेष छहों का भिन्न भिन्न देश के राजाओं से विवाह कर दिया गया।[7] उनकी सूची इस प्रकार है—

१—लॉकोतकृत गुणाढ्य ऐंड बृहत्कथा, मिथिक सोसाइटी जर्नल, भाग १२-१३, पृष्ठ १४।
२—जैनिज्म इन नार्थ इंडिया, पृष्ठ ९५, पाद-टिप्पणी।
३—२,१,४२।
४—वत्सराजोदयन-प्रबंध, प्रबंध-कोष, पृष्ठ ८६; कौशांबी-नगर-कल्प, विविध-तीर्थ-कल्प, पृष्ठ २३।
५—२,१,४०-४२।
६—'सदृशमेतद् वैदेहीपुत्रस्य'। —अंक ६, श्लोक ६ के पश्चात् कंचुकी का कथन।
७—आवश्यक सूत्र, पृष्ठ ६७६।

१—प्रभावती—वीतिभय के राजा उदायन।
२—पद्मावती—चंपा के राजा दधिवाहन।
३—मृगावती—कौशांबी के राजा शतानीक।
४—शिवा—उज्जयिनी के राजा प्रद्योत।
५—ज्येष्ठा—महावीर के बड़े भाई नंदिवर्धन।
६—चेल्लना—राजगृह के राजा श्रेणिक (बिंबसार)।

मृगावती के विषय में आए हुए अन्य उल्लेख भी उपर्युक्त विधान की पुष्टि करते हैं। विनयविजयगणिन् के मतानुसार महावीर जब कौशांबी गए थे उस समय वहाँ का राजा था शतानीक और रानी थी मृगावती।[1] 'प्रबंधकोष'कार का भी यही मत है।[2] 'विविध-तीर्थ-कल्प' भी इसी मत की पुष्टि करता है।[3] यह तो हुई जैन ग्रंथों की बात। संस्कृत साहित्य में जो उदयन-विषयक प्रमुख ग्रंथ समझा जाता है उस 'कथा-सरित्सागर' का भी मत उपर्युक्त विधान का पुष्टिकर्ता है,[4] यद्यपि जैसा कि अभी हम ऊपर बतला आए हैं उदयन के पिता के नाम के विषय में अन्य ग्रंथों से उसका मतैक्य नहीं है।

अब यह देखना है कि भास ने उदयन को जिस वैदेही का पुत्र कहा है वह वैदेही कौन थी। क्या वह मृगावती ही थी? अभी हम देख आए हैं कि मृगावती लिच्छवियों के नायक चेटक की तीसरी कन्या थी। ऐसी अवस्था में उसे वैदेही कहना ठीक नहीं ज्ञात होता। परंतु ऐसा ही एक उदाहरण हमें बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। बिंबसार-पुत्र अजातशत्रु को भी पालि-ग्रंथों में वैदेही-पुत्र कहा गया है।[5] यद्यपि चेटक स्वयं लिच्छवी था तथापि उसकी भगिनी त्रिशला, महावीर की माँ, को विदेहदत्ता कहा गया है और पुत्री को वैदेही।[6] इससे यह सिद्ध होता है कि विदेह और वैशाली में किसी न किसी प्रकार का पारस्परिक संबंध अवश्य था। यह भी संभव है कि कुछ विदेहनिवासी वैशाली में बस गए हों और चेटक तथा उसका परिवार इन्हीं विदेह-निवासियों में से हो। महावीर को भी, जिनका जन्म वैशाली के समीप कुंडन ग्राम में हुआ था, जैन ग्रंथों में ज्ञात्री-क्षत्रिय-कुल-चंद्र विदेह, विदेहदत्ता-सुत, विदेहकुमार यही नहीं विदेहनिवासी भी कहा गया है।[7] यह विधान हमारी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करता है। ऐसी अवस्था में उदयन को वैदेही-पुत्र कहना असंगत नहीं प्रतीत होता। 'कथासरित्सागर' में यद्यपि मृगावती को अयोध्या-

---

१—कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृष्ठ २५७।
२—'चेटकराजनन्दिनी मृगावती', प्रबंध-कोष, पृष्ठ ८६-८७।
३—'मिगावई कुक्खिसंभवो'। -विविध-तीर्थ-कल्प, पृष्ठ २३।
४—कथासरित्सागर २,१,४२।
५—रिस् डेविड्कृत केंब्रिज हिस्ट्री ऑव् इंडिया, भाग १, पृष्ठ १८३।
६—राय चौधरीकृत पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव् इंडिया, पृष्ठ १०६।
७—श्री शाहकृत जैनिज्म इन नार्थ इंडिया, पृष्ठ ८६-८७।

धीश कृतवर्मा की कन्या बतलाया गया है तथापि उसमें कुछ भी तथ्यांश नहीं ज्ञात होता। क्योंकि उसका समर्थन किसी भी ग्रंथ द्वारा नहीं होता है।

जन्म और शैशव—इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चंद्रवंशीय वत्स-सम्राट् शतानीक और विदेहकुमारी मृगावती से हमारे चरित्रनायक का जन्म हुआ था। उदयन के जन्म के विषय में भी बड़ी मनोरंजक कथाएँ प्राप्त होती हैं। 'कथासरित्सागर' में वर्णित कथा इस प्रकार है—

"सहस्रानीक (शतानीक) और मृगावती कौशांबी में रहा करते थे। तिलोत्तमा अप्सरा का ऐसा शाप था कि इन दोनों का वियोग हो। इन दिनों मृगावती गर्भवती थी। राजा ने एक दिन उससे दोहद पूछे। मृगावती ने यह इच्छा प्रदर्शित की कि मैं रक्त से भरे हुए कुंड में स्नान करूँ। राजा ने उसकी इच्छा अन्य प्रकार से पूरी करने की सोची। एक बड़े भारी कुंड में रक्तवर्ण का जल भरवाया गया और रानी को अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये कहा गया। मृगावती उस कुंड में प्रसन्न चित्त से स्नान कर बाहर आई। आकाश-संचारी एक पक्षी ने मृगावती का रक्त से सना शरीर देख उसे खाद्य-वस्तु समझकर हरण कर लिया और उदयाद्रि नामक एक पर्वत पर उसे रख दिया। वहाँ पर रहनेवाले जमदग्नि ऋषि ने मृगावती को बचाया। उसी पर्वत पर उदयन का जन्म हुआ।"

इसी के अंतर्गत एक शबर कथा भी आती है जिसमें एक सर्प को बचाने के निमित्त उदयन को तीन अमूल्य वस्तुएँ—वीणा, तांबूली और अम्लान माला—प्राप्त हो जाती हैं और अंत में चमत्कारपूर्ण प्रकार से पिता-पुत्र का मिलन होता है।[१]

इसी प्रकार की एक कथा हमें बौद्ध साहित्य से मिलती है। वहाँ पर यही कथा थोड़े से हेरफेर के साथ कही गई है। वत्सराज परंतप ने अपनी गर्भिणी रानी (मृगावती) को एक लाल दुशाला ओढ़ा दिया और उसके हाथ में एक अमूल्य मुद्रिका भी पहना दी। ठीक उसी समय आकाश में एक 'हत्तिलिंग' उड़ता हुआ आया और उसे हरण कर ले गया। उसने उड़कर उसे एक बट-वृक्ष पर रख दिया और स्वयं विश्राम करने लगा। इतने में स्वसंरक्षण-हेतु मृगावती चिल्लाई और 'हत्तिलिंग' भय से भाग गया। उसी वृक्ष पर मृगावती के गर्भ से उदयन जन्मा। उस समय उसे शीत, उष्ण और वर्षा इन तीन ऋतुओं का एक साथ अनुभव हुआ। वहीं पर एक ऋषि रहते थे। उन्ही से नूतन बालक ने जिसका नाम उदयन रखा गया था, गजवशीकरण विद्या प्राप्त की। तत्पश्चात् वश किए हुए हाथियों तथा उस लाल दुशाले और मुद्रिका की सहायता से उसने अपने पिता से राज्य प्राप्त किया।[२]

इन दोनों कथाओं में बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है, परंतु किसी को भी पूर्ण ऐतिहासिक मानना असंभव है। 'कथासरित्सागर'वाली कथा से बुद्धघोष की कथा

१—कथासरित्सागर २, १, ८८ तथा २, २, २०५-२०७।

२—श्री घोष कृत अर्ली हिस्ट्री ऑव् कौशांबी, पृष्ठ १२-१३।

में चमत्कार तथा अद्भुत रस की मात्रा अधिक है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि सोमदेव ने चमत्कार-कथन छोड़ ही दिया हो। अब यह देखना है कि इन दोनों कथाओं का तुलनात्मक अध्ययन हमें किन ऐतिहासिक निष्कर्षों पर पहुँचाता है। दोनों कथाओं से ये बातें स्पष्ट होती हैं। उदयन का जन्म कौशांबी में नहीं हुआ था। उसके जन्मकाल में मृगावती और शतानीक वियुक्त थे। उदयन का सारा शैशव कष्टमय परिस्थिति में ही बीता था और राज्य प्राप्त करने के लिये उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

अन्य बौद्ध ग्रंथ उसके जन्म के विषय में अधिक नहीं बतलाते। इतना अवश्य कहा जाता है कि उदयन का जन्म ठीक उसी दिन हुआ था जिस दिन गौतम बुद्ध ने जन्म लिया था। उसी दिन श्रावस्ती में प्रसेनजित्, राजगृह में बिंबसार और उज्जयिनी में प्रद्योत भी जन्मे थे। ये सब लोग सहजात कहे जाते हैं।[1]

अध्ययन—उदयन के अध्ययन के विषय में भी साहित्य-ग्रंथों से अधिक ज्ञात नहीं होता, तथापि इने-गिने उल्लेखों से निम्नांकित बातें जानी जा सकती हैं। उसने गज-वशीकरण विद्या भी सीख ली थी।[2] वह गान-विद्या में अत्यंत पटु था।[3] इसलिये वह 'नाद-समुद्र' नामक पदवी से विभूषित था।[4] उसे अत्युच्च कोटि का वीणावादन आता था। अवंति के राजा प्रद्योत ने उसे अपनी कन्या के लिये उपयुक्त शिक्षक समझा था। 'कथासरित्सागर' में वर्णित दिग्विजय को देखकर तथा अन्य स्थलों पर किए गए उनके वर्णनों को पढ़कर कहा जा सकता है कि वह युद्ध-कला में भी निपुण था। जैन ग्रंथों में उसे कलासक्त, धीर और ललित नायक कहा गया है।[5] इससे स्पष्ट होता है कि उसने कलाओं का विशेषकर ललित कलाओं का अच्छा अध्ययन किया था। इसके सिवा 'प्रियदर्शिका' से यह ज्ञात होता है उसे सर्पविष हरण करने की भी विद्या अवगत थी[6] जिसके बल पर उसने प्रियदर्शिका को विष-प्रभाव से बचा लिया। इसी नाटक के बल पर उसका अभिनय-पटुत्व भी सिद्ध होता है।

रानियाँ

संस्कृत का उदयन-विषयक साहित्य उसके प्रेमी रूप का ही अधिक वर्णन करता है। बौद्ध और जैन साहित्य भी उदयन की प्रेम-विषयक कथाओं से रिक्त नहीं हैं। तीनों साहित्य वत्सराज की अनेकानेक पत्नियों की चर्चा करते हैं। प्रथम संस्कृत

१—रॉकहिल कृत लाइफ ऑव् बुद्ध, पृष्ठ १६।
२—गजहृदयानि बलाद् वशीकरोति।—प्रतिज्ञायौगंधरायण, अंक, २ श्लोक १२।
३—'गंधव्व 'वेयनिवुणो'।—विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ २३-२४।
४—प्रबंध-कोष, पृष्ठ ८६।
५—प्रबंध-कोष, पृष्ठ ८६।
६—'नागलोकादगृहीतविषविद्यं आर्यपुत्रम्'।—प्रियदर्शिका, अंक ४, श्लोक ७ के पश्चात्।

साहित्य देखिए। 'कथासरित्सागर' में उदयन की तीन पत्नियाँ बतलाई गई हैं—वासवदत्ता, बंधुमती और पद्मावती[1]। श्रीहर्ष ने उसकी दो और पत्नियों का वर्णन किया है—अंगदेश की राजकुमारी प्रियदर्शिका तथा सिंहल की राजकुमारी रत्नावली।[2] बौद्ध साहित्य में भी उसकी दो रानियों का उल्लेख मिलता है—शीमावती और माकंदिका।[3] जैन ग्रंथों द्वारा वासवदत्ता, पद्मावती, वसुदत्ती और सुवीणा ये चार भार्याएँ बतलाई गई हैं।[4] हो सकता है कि इनी गिनी रानियों के अनेक नामों को लेकर इस कथा-भांडार का सर्जन किया गया हो, परंतु प्रथमतः इन तीनों साहित्यों में उल्लिखित राजकुमारियों का पृथक् पृथक् विचार करने के उपरांत ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचना ठीक होगा।

वासवदत्ता—वासवदत्ता का नाम संस्कृत तथा जैन साहित्य दोनों में समान रूप से आता है। संस्कृत साहित्य में उसके परिणय की पूरी कथा मिलती है। जैन 'प्रबंधकोष'कार ने भी उसका उदयन-पत्नी होना स्वीकार किया है।[5] उदयन और वासवदत्ता का विवाह भास के 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' की मुख्य कथा-वस्तु बना है। यद्यपि 'कथासरित्सागर' और 'प्रतिज्ञायौगंधरायण' की कथा में किंचित् भिन्नता है तथापि वह भिन्नता ऐसी नहीं है जिससे मूल ऐतिहासिक तत्त्वों में ही परिवर्तन हो। दोनों का सार यही है कि अवंतिनाथ प्रद्योत छल से उदयन को बंदी बनाता है। अवंती में आने पर उदयन को राजकुमारी वासवदत्ता को वीणा-वादन सिखाने का कार्य सौंपा जाता है। शनैः शनैः उदयन और वासवदत्ता में प्रणय उत्पन्न हो जाता है और एक दिन उदयन अपने मंत्री यौगंधरायण की सहायता से वासवदत्ता का हरण कर लेता है। प्रद्योत को जब यह बात ज्ञात होती है तब वह मन में प्रसन्न होते हुए भी उदयन का विरोध करता है, परंतु अंततोगत्वा अपने पुत्र गोपालक को भेजकर विवाह संपन्न करा ही देता है।

कुछ दिनों पूर्व कौशांबी से प्राप्त तीन मृण्मय आलेखों पर इसी कथा का पूर्ण अंकन किया हुआ है। ये ईसा-पूर्व दूसरी शती के हैं।[6] अतएव यह कथा उस समय भी लोकविश्रुत रही होगी ऐसा मानने में कोई हानि नहीं। वासवदत्ता की इस कथा का उल्लेख श्रीहर्ष ने अपने नाटकों में किया है।[7] वासवदत्ता के विषय में उपर्युक्त ग्रंथों को देखते हुए ये बातें बतलाई जा सकती हैं—वासवदत्ता उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योत की पुत्री थी। उदयन से इसके विवाह की कथा हम बतला आए हैं। उसका पति-प्रेम अप्रतिम है। उदयन-पद्मावती-विवाह की यौगंधरायण की योजना

१—२, ६, २७; ३, २, ६२-८५; २, ६, ६९।
२—रत्नावली और प्रियदर्शिका।
३—दिव्यावदान, अध्याय ३६।
४—प्रबंधकोष, पृष्ठ ८८ और करकंडु-चरिउ, ६, १, ५, पृष्ठ ५४।
५—वही, पृष्ठ ८८।
६—जर्नल ऑव् दि यू० पी० हिस्टॉरिकल सोसाइटी, पन्नालाल नंबर, पृष्ठ ८२।
७—'राजा—···न खलु सर्वो वत्सराजो य एवं वासवदत्तामवाप्य बन्धनान्निर्यास्यति।'—प्रियदर्शिका, अंक १, ७।

उसके लिये कटुतम होते हुए भी अपने पति के सुख एवं ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये उसे मान्य होती है। हम आगे बतलाएँगे कि यौगंधरायण की इस योजना का वर्णन भी ऐतिहासिक आधार पर ही अवलंबित है। वासवदत्ता में स्त्री-सुलभ मात्सर्य भी निहित है जिसके ही कारण वह रत्नावली और प्रियदर्शिका दोनों को बंदीगृह भिजवाने में भी नहीं हिचकती।[१] इसके अतिरिक्त उसमें मान भी कम नहीं है। उदयन को पैरों पर गिरते देखकर भी उसका हृदय नहीं पसीजता।[२] परंतु इसके साथ साथ उसके हृदय की कोमलता भी नहीं छिपती। पद्मावती की अस्वस्थता से वह स्वयं अस्वस्थ हो जाती है।[३] आरण्यिका के विषपान की वार्ता पाकर तथा यह जानकर कि वह मेरी भतीजी है वह व्याकुल हो उठती है।[४] उदयन के हृदय पर उसका पूरा अधिकार है। अन्य पत्नियों को चाहते हुए भी वह उसे नहीं भूलता।[५] संस्कृत साहित्य में उसके देवपूजन का भी वर्णन आता है। कभी वह मन्मथ-पूजन करती हुई[६] तथा कभी यक्षिणी के दर्शन को जाती हुई[७] दिखाई देती है। संक्षेपतः वह एक आर्य नारी का उत्तम आदर्श है।

पद्मावती—पद्मावती उदयन की द्वितीय भार्या थी। 'कथासरित्सागर' तथा 'स्वप्नवासवदत्ता' दोनों से यह सिद्ध होता है कि वत्स को शक्तिशाली बनाने के लिये ही यह संबंध किया गया था। 'अर्थशास्त्र' से भी इस घटना की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है।[८] भास के कथनानुसार ही यौगंधरायण ने खोए हुए वत्सराज्य की प्राप्ति के लिये इस संबंध की आयोजना की थी अथवा जैसा 'कथासरित्सागर' बतलाता है कि नवीन राज्यों से मैत्री-स्थापना के लिये यह संबंध किया गया था—इसका विचार हम अन्यत्र करेंगे। प्रकृत अवस्था में इतना ही बतलाया जा सकता है कि यह संबंध हुआ अवश्य था और इसमें यौगंधरायण का भी बहुत कुछ हाथ था। मगध वत्स का निकटस्थ देश था और किसी भी अवस्था में उससे मैत्री-भाव का रहना आवश्यक था। इतिहास में इस प्रकार मैत्री-स्थापना के लिये किए गए वैवाहिक संबंधों की कोई कमी नहीं है।

पद्मावती मगधराज दर्शक की भगिनी थी।[९] 'बृहत्कथामंजरी' के अनुसार वह मगध के तत्कालीन अधिपति प्रद्योत की पुत्री थी।[१०] 'कथासरित्सागर' भी इससे सहमत

१—रत्नावली और प्रियदर्शिका, अंक ३ का अंतिम भाग।
२—वही।
३—'वासव—अहो अकरुणा खु इस्सरा मे···' इत्यादि। —स्वप्नवासवदत्ता ५, ६ के पश्चात्।
४—'वासव—···लब्धिहैवानयताम्···' इत्यादि। —प्रियदर्शिका ४, ७ के पश्चात्।
५—स्वप्नवासवदत्ता ४, ४।
६—'उभे—···एवं देवी विज्ञापयसि···' इत्यादि। —रत्नावली, १, १६ के पश्चात्।
७—'विदू०—या सा कालाष्टमी अतिक्रान्ता····' इत्यादि।—प्रतिज्ञायौगंधरायण, ३, ५ के पश्चात्।
८—अर्थशास्त्र, शामशास्त्री का भाषांतर, पृष्ठ ३८७।
९—'कांचुकीय—···महाराजदर्शकस्य भगिनी पद्मावती···।'—स्वप्नवासवदत्ता, १,५ के बाद।
१०—लावाणक लंबक ३,९३।

है। 'प्रबंधकोष' के मतानुसार वह डाहल देश के राजा की कन्या थी।[१] यह दर्शक कौन था, 'कथासरित्सागर' में उल्लिखित प्रद्योत से उसका क्या संबंध था, प्रद्योत आवंत्य था या मागध, अथवा क्या ये दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति थे, नामसादृश्य के कारण कथा-लेखकों ने इस प्रकार की गड़बड़ी उत्पन्न कर दी, इन सब बातों का विस्तृत विवेचन उदयन के काल-निर्णय की चर्चा करने के समय आगे करेंगे। यहाँ पर इतना ही कथन पर्याप्त होगा कि संभवतः दर्शक 'कथासरित्सागर' में वर्णित राजा का ही पुत्र रहा होगा, केवल 'कथासरित्सागर' का मूल पाठ 'प्रद्योत' न होकर 'प्राद्योत' (प्रद्योत के वंश में उत्पन्न बालक) रहा होगा। उन दिनों मगध की राजधानी राजगृह थी।[२] पद्मावती की माता उन दिनों जीवित थी जब उदयन और पद्मावती का विवाह हुआ था।[३] 'कथासरित्सागर' में वर्णित तथा भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' में कथित कथा में अधिक अंतर नहीं है। यौगंधरायण ने इस विवाह को संपन्न कराने के लिये एक जाल रचा। जिस समय उदयन शिकार खेलने के लिये लावाणक (मगध का निकटस्थ प्रदेश)[४] गया हुआ था उस समय यौगंधरायण ने गुप्त रूप से वासवदत्ता को वहाँ से हटाकर अपने मित्र रुमण्वान द्वारा अंतःपुर में आग लगवा दी। तदुपरांत जनता में यह प्रगट किया गया कि अंतःपुरवाली आग में महारानी वासवदत्ता भी जल गईं। उदयन को भी यही समाचार दिया गया। इधर यौगंधरायण ने वासवदत्ता का वेष बदलकर उसे अपनी भगिनी वा कन्या के रूप में किसी बहाने से पद्मावती के पास धरोहर रख दिया। इस प्रकार अपत्नीक बने हुए उदयन को मगधराज ने पद्मावती देने की बात चलाई और अंततोगत्वा दोनों का विवाह भी हो गया। तदुपरांत यौगंधरायण ने ही सारा भेद खोल दिया और उदयन-वासवदत्ता का पुनर्मिलन हुआ।

पद्मावती रूप, शील तथा माधुर्य से युक्त थी।[५] वह धर्मभीरु भी थी।[६] बड़ों का आदर करना उसके चरित्र का वैशिष्ट्य है। मात्सर्य उसे छू भी नहीं गया था। यह जानकर भी कि पति अद्यापि वासवदत्ता को प्यार करता है, वह विचलित नहीं होती। वासवदत्ता के प्रगट होने पर भी उसका व्यवहार एक सा बना रहता है। यहाँ पर इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि पद्मावती का चरित्र-चित्रण हम केवल 'स्वप्नवासवदत्ता' के ही आधार पर कर रहे हैं। नाटक होने के कारण यह पूर्ण ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता।

१—प्रबंधकोष, पृष्ठ ८८।

२—'कांचुकीय—···राजगृहमेव यास्यति'।—स्वप्नवासवदत्ता, १,५ के बाद।

३—(क)···'महाराजमातरं महादेवीमाश्रमस्थामभिगम्य'।—स्वप्नवासवदत्ता, १,५ के बाद।
(ख) बृहत्कथामंजरी, ३,८१।

४—कथासरित्सागर, ३,१,११९।

५—'पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः'।—स्वप्नवासवदत्ता, ४, ४।

६—'धर्मप्रिया नृपसुता······'।—वही १, ६।

बंधुमती, रत्नावली और प्रियदर्शिका—'कथासरित्सागर' में उदयन की जिस तीसरी पत्नी का भी वर्णन आता है वह है बंधुमती।[1] 'कथासरित्सागर' के अनुसार वासवदत्ता के भाई गोपालक ने बंधुमती नामक राजपुत्री का पराक्रम से हरण कर उसे अपनी बहिन को सौंपी था। एक दिवस उदयन की और बंधुमती की लतागृह में भेंट हुई। तत्पश्चात् वसंतक की सहायता से उदयन ने गांधर्व विधि द्वारा उससे विवाह भी कर लिया। इस पर वासवदत्ता का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। उसने वसंतक और बंधुमती दोनों को बंदीगृह भेजवा दिया। पश्चात् सांकृत्यायनी नामक एक प्रव्राजिका की मध्यस्थता से सबों में मेल हो गया। बंधुमती के पिता का नाम 'कथासरित्सागर' में नहीं बतलाया गया है। संभवतः वह प्रद्योत या उसकी ओर से युद्ध करनेवाले गोपालक द्वारा विजित किसी समीपवर्ती राजा की कन्या होगी। श्रीहर्ष ने अपने नाटकों के लिये यही कथा-वस्तु ली है। अंतर नामों का है। रत्नावली को उसने सिंहलाधीश की पुत्री बतलाया है और प्रियदर्शिका को अंगपति दृढ़वर्मा की कन्या। इसके अतिरिक्त दोनों कथाएँ, यदि वस्तु को चरित्र-प्रधान और घटना-प्रधान बनाने के लिये नाटककार की बरती हुई स्वतंत्रता को छोड़ दिया जाय, तो एक सी ही हैं। दोनों मुग्धा नायिका के रूप में दिखलाई गई हैं और वासवदत्ता की तुलना में दोनों सामान्या ही हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि 'कथासरित्सागर' की बंधुमती को ही रत्नावली और प्रियदर्शिका के रूप में नाटककार ने सामने रखा है।

अब हम बौद्ध साहित्य में वर्णित उदयन-पत्नियों की ओर ध्यान देते हैं। 'दिव्यावदान' हमें उसकी दो पत्नियों के विषय में बहुत कुछ बतलाता है।

शामावती—"एक दिन उदयन ने अपने प्रासाद के बाहर बैठी हुई तरुण शामावती को देखा। देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह 'वड्डवई' देश के सेठ 'वड्डवत्ती' की कन्या है। परंतु वहाँ अकाल पड़ने के कारण कौशांबी के सेठ घोषित द्वारा गोद ले ली गई है। उदयन ने उससे विवाह कर लिया और शनैः शनैः वह पट्टमहिषी भी हो गई।"[2] इसी शामावती के विषय में दिव्यावदान[3] में भी बहुत कुछ लिखा है। इस ग्रंथ के अनुसार वह श्रमण गौतम की उपासिका थी। इसकी और भी सखियाँ बौद्ध ही थीं। उस कन्या के ऊपर गौतम का विशेष अनुग्रह था। गौतम के लिये यह सब कुछ करने को तैयार थी। उदयन की भी इसके आगे कुछ नहीं चलती थी। अनुपमा और माकंदिका द्वारा रचे गए षड्यंत्र के फलस्वरूप यह और इसकी सखियाँ जला दी गईं।

१—कथासरित्सागर, २, ६, ६७-७३।

२—श्री घोषकृत अर्ली हिस्ट्री ऑव् कौशांबी, पृष्ठ १३।

३—दिव्यावदान, अध्याय ३६।

अनुपमा—'दिव्यावदान' में शामावती की कथा के साथ हमें अनुपमा की कथा भी पूर्ण विस्तार के साथ मिलती है। परंतु मूल ऐतिहासिक अग्निकणों के ऊपर बौद्ध प्रभाव की इतनी अधिक राख जमी हुई है कि मूल अग्नि का पता पाना असंभव सा है। वर्णित कथा इस प्रकार है—

'माकंदिक नामक एक परिव्राजक अपनी कन्या अनुपमा को लेकर कौशांबी आया। वह वहाँ के राजकीय उद्यान में पहुँचा। सेवकों से अनुपमा के रूप का वर्णन सुनकर उदयन भी वहाँ पहुँचा और माकंदिक की संमति से उसने अनुपमा से विवाह किया। अब माकंदिक को मंत्री बना दिया गया। अनुपमा अपनी सपत्नी शामावती से बहुत जलती थी। उसने अनेक युक्ति-अयुक्तियों द्वारा उदयन के मन में यह बात भर दी कि शामावती गौतम के लिये सब कुछ करने को तैयार है, परंतु उदयन के लिये नहीं। फलतः उदयन शामावती को मारने गया, परंतु उसके बाण शामावती का कुछ भी न बिगाड़ सके। इससे उदयन बहुत प्रसन्न हुआ और उसने शामावती के लिये उपासना करने की पूरी व्यवस्था कर दी।

एक बार किसी विद्रोही को दबाने के लिये जब मंत्री माकंदिक को नगर-व्यवस्था सौंपकर उदयन बाहर गया हुआ था तब अनुपमा ने अपने पिता को स्वदुःख-निवेदन द्वारा प्रभावित कर शामावती का प्रासाद दग्ध करने के लिये बाध्य किया। माकंदिक ने प्रासाद में छल द्वारा भूर्जपत्रादि अग्निग्राही वस्तुओं को एकत्र करा उसमें आग लगा दी। शामावती और उसकी सखियों ने आकाश-गमन की सिद्धि से युक्त होते हुए भी उसी में अपने को भस्म करा दिया। आग बुझाने के लिये दौड़ आनेवाले नगर-निवासियों को माकंदिक ने हठात् रोक दिया था। इस प्रकार अनुपमा ने सपत्नी से बदला लिया।

धीरे धीरे उदयन को इसकी वार्ता मिली। क्रुद्ध होकर उसने माकंदिक और अनुपमा को इसी प्रकार जला डालने की आज्ञा दी, परंतु यौगंधरायण की युक्ति से वे दोनों बच गए।'

वसुदत्ता और सुवीणा—जैन साहित्य हमें उसकी दो पत्नियों के नाम बतलाता है—वसुदत्ता और सुवीणा। 'प्रबंधकोष'[1] वसुदत्ता के विषय में निम्नांकित कथा बतलाता है—'पाताल के क्रौंचहरण नामक नगर में वासुकी राज्य करता था। उसी की कन्या का नाम वसुदत्ता था। कौशांबी के नयनाभिराम उद्यानों का वर्णन सुनकर यह कन्या एक दिन अपनी सखियों के साथ वहाँ क्रीड़ा करने के लिये गई। उद्यान-पालकों ने उदयन को इस कन्या के आने का समाचार दिया। उदयन उसे देखने के लिये वहाँ आया। जैसे ही वह इसकी ओर बढ़ा वैसे ही वसुदत्ता एक बिलमार्ग में प्रविष्ट हो गई। फलतः उदयन उसे न पा सका केवल उसकी वेणी उदयन के हाथ में आ गई। राजा ने तलवार से उसकी वेणी काट ली। तदुपरांत वह उसके विरह से अत्यंत व्याकुल हुआ और उसने पुरवासियों को आज्ञा दी

१—प्रबंधकोष, पृष्ठ ८६, ८७।

कि वेणी को सिंहासन पर बैठाकर राज्य चलाया जाय और स्वयं विरहावेग में सब कुछ छोड़कर एकांत में जा बैठा। इधर जब नागराज को पुत्री के वेणीहरण की सूचना मिली तब क्रुद्ध हो उसने अपने सेनापति तक्षक को उदयन का नाश करने के लिये भेजा। परंतु कौशांबी में वेणी-राज्य की वार्ता सुन तथा तापस वत्सराज को देखकर तक्षक का विचार बदला और उसने वासुकी से यह विवाह करा देने की प्रार्थना की। इस प्रकार विवाह संपन्न हो गया।

सुवीणा[1] के केवल नाम का उल्लेख हमें 'करकंडु-चरिउ' में मिलता है। इस ग्रंथ से हम इतना ही जानते हैं कि वह नरवाहनदत्त की माता थी।

इस प्रकार इन भिन्न भिन्न कथाओं को देखने के बाद अब उनकी मीमांसा कर किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। बौद्ध ग्रंथों को छोड़कर वासवदत्ता का पटरानी होना सबको मान्य है। बौद्धों के अनुसार शामावती उदयन की पट्टमहिषी थी। वासवदत्ता तथा शामावती की कथाओं में निम्नलिखित बातें समान ज्ञात होती हैं—

१—दोनों उदयन की पटरानियाँ थीं।

२—दोनों का उदयन पर पूर्ण प्रभाव था। हम ऊपर देख चुके हैं कि वह वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिये उसके पैरों पर गिरने में भी नहीं हिचकिचाता। इधर शामावती के विरुद्ध अनुपमा उसके अनेक प्रकार से कान भरने की चेष्टा करती है तथापि उदयन उधर ध्यान नहीं देता[2] और बाद में उसके प्रभाव को देखकर पूर्ण प्रभावित हो जाता है।[3]

३—हम ऊपर कह आए हैं कि वासवदत्ता धर्मभीरु थी। शामावती में भी वह बात प्रत्यक्ष है। उसके धार्मिक प्रभाव के ही कारण उदयन के बाणों को निष्फल करने की तथा आकाशगमन की सिद्धियाँ उसके पास हैं।

४—वासवदत्ता पद्मावती के प्रति मात्सर्य की भावना से अभिनिविष्ट नहीं है। शामावती को भी अनुपमा से कोई द्वेष नहीं है।

५—उदयन की अनुपस्थिति में दोनों पटरानियों का अग्नि में जलना दोनों ग्रंथों को मान्य है। अंतर केवल इतना ही है कि एक में वह यौगंधरायण की नीति का एक भाग है और दूसरे के अनुसार अनुपमा के षड्यंत्र का फल।

इन आधारों पर कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य की वासवदत्ता बौद्धों के वस्त्र पहनकर महाश्रमण गौतम की उपासना करती हुई शामावती के रूप में आई है, यद्यपि बौद्धों के द्वारा उसका और उसके पिता का नाम तथा उसके विवाह की कथा भी बदल दी गई है।

१—करकंडु-चरिउ, ६,१,५।

२—'मा संरंभं कुरु उपासकैषा नात्रादोषः...'—दिव्यावदान, अध्याय ३६।

३—"...राजा विनीतः कथयति ..."। वही।

उदयन की दूसरी रानी पद्मावती के विषय में भी बौद्ध साहित्य मौन है। परंतु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं उसके अस्तित्व के प्रबल एवं पुष्ट प्रमाण उपस्थित हैं। अतएव इस मगधराज-पुत्री का वत्सराज उदयन से विवाह होना ऐतिहासिक माना जा सकता है।

अब 'कथासरित्सागर' की बंधुमती, श्रीहर्ष की प्रियदर्शिका और रत्नावली तथा बौद्ध ग्रंथों की अनुपमा का विचार करें। इनमें से प्रथम तीन का हम विचार कर आए हैं और यह बतलाने की चेष्टा की गई है कि श्रीहर्ष ने बंधुमती के ही ये दो नवीन नाम रखे हैं और नवीन कथाओं की सृष्टि की है। अनुपमा तथा बंधुमतीवाली कथा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम निम्नांकित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

१—दोनों कौशांबी में कहीं बाहर से दूसरों के द्वारा लाई गई थीं।
२—दोनों अत्यंत रूपवती थीं।[1]
३—उदयन से दोनों की प्रथम भेंट उद्यान में ही होती है।[2]
४—इनका उदयन से परिणय कराने में राजसेवक ही सहायक होते हैं।[3]
५—दोनों की कथाओं में उदयन रूपमुग्ध होकर ही गांधर्व विधि से विवाह करता है।

'कथासरित्सागर' में बंधुमती की कथा विस्तार से नहीं आई है। फलतः हम उसके परवर्ती चरित्र से अनभिज्ञ हैं। अन्यथा हमें अपने इस निष्कर्ष से कि अनुपमा ही 'कथासरित्सागर' की बंधुमती है, जाँच करने में बड़ी सहायता मिलती है। उपर्युक्त साम्य के अतिरिक्त इन दोनों की कथाओं में एक भेद भी दिखाई देता है। 'कथासरित्सागर' में बंधुमती को राजकुमारी कहा गया है और 'दिव्यावदान' में परिव्राजक-पुत्री। परंतु 'परिव्राजक-पुत्री' समास में ही स्पष्ट विरोध दिखाई पड़ने से इस भेद का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। साथ ही साथ भारतीय इतिहास स्वेच्छापूर्वक तोड़ मरोड़ करनेवाले बौद्धों की कथाओं में इस प्रकार के भेद का कोई विशेष मूल्य नहीं रखते।

अब केवल जैनों की वसुदत्ती पर विचार करना शेष रह जाता है। वसुदत्ती वासवदत्ता नहीं हो सकती। वासवदत्ता और पद्मावती दोनों के भिन्न भिन्न स्वतंत्र उल्लेख 'प्रबंधकोष' में विद्यमान हैं।[4] तीसरी बच जाती है बंधुमती। इसकी तथा वसुदत्ती की कथा में साम्य और विरोध समान रूप से दिखाई पड़ते हैं। बंधुमती के समान

१—(क) कथासरित्सागर, २,६,६८।
(ख) 'दृष्टाहारिणीन्द्रियाणि सकृद्दर्शनादेव क्षिप्तहृदयः....'। —दिव्यावदान, अध्याय ३६।
२—(क) कथासरित्सागर, २,६,६९।
(ख) '...उद्याने अवस्थितः...उद्यानं गतः...'। —दिव्यावदान, अध्याय ३६।
३—(क) 'वसन्तकसहायः'। —कथासरित्सागर, २,६,६८।
(ख) '...उद्यानपालकपुरुषेण राज्ञा निवेदितम्'। —दिव्यावदान, अध्याय ३६।
४—'क्रमेण स वासवदत्तां चण्डप्रद्योतपुत्रीं पर्यणैषत्'।
'डाहलदेशाधिपपुत्रीं पद्मावतीं च'। —प्रबंधकोष, पृष्ठ ८८।

वसुदत्ती की भी उदयन से प्रथम भेंट उद्यान में हीं होती है और वह उन पर मुग्ध हो जाता है। दोनों कौशांबी में अनायास ही चली आई थीं। उदयन ने स्वयं उनके लिये कोई प्रयास नहीं किया था। परंतु विरोध इस बात का है कि वसुदत्ती नागराज की पुत्री थी। उसके वियोग में उदयन ने राजत्याग किया था और इस विवाह के फल-स्वरूप उसकी नागों से मित्रता हो गई थी। इस नागमैत्री का संकेत हमें 'प्रियदर्शिका' तथा 'कथासरित्सागर' में भी मिलता है, परंतु विवाह के अवसर पर नहीं विद्याध्ययन के अवसर पर।[1] इस कथा का विवेचन करते हुए निम्नांकित बातों का भी ध्यान रखना चाहिए —

१—यह कथा जैनों को भी संमत नहीं है, केवल विनोद के लिये कही गई है।[2]

२—'प्रबंधकोष' बहुत परवर्ती काल का ग्रंथ है।[3]

अतएव यह कहा जा सकता है कि उदयन-चरित्र के दो भिन्न भिन्न कथा-भागों को लेकर इस कथा का संकलन किया गया है। संभव है कि बंधुमती ही वसुदत्ती का रूप धारण कर आई हो और उदयन का नागराज से संबंध होने के कारण वह नागराज की पुत्री भी बना दी गई हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उदयन की वासवदत्ता, पद्मावती और मती ये तीन पत्नियाँ थीं।

———

१—देखिए पीछे पृष्ठ ३२।

२—प्रबंधकोष, पृष्ठ ८२।

३—वही, जिनविजय मुनि की भूमिका।

व्यंजना अर्थ का व्यापार है शब्द का नहीं

[प्रो० श्री कांतानाथ शास्त्री तेलंग, एम० ए०]

(१)

साहित्य-शास्त्र में व्यंजना दो प्रकार की मानी गई है—शब्दशक्तिमूला और अर्थशक्तिमूला। पहली को शाब्दी और दूसरी को आर्थी भी कहते हैं। व्यंग्यार्थ जहाँ शब्द की महिमा से निकले वहाँ शाब्दी और जहाँ अर्थ की महिमा से निकले वहाँ आर्थी व्यंजना मानी गई है। शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद कहे गए हैं—(१) अभिधामूला और (२) लक्षणामूला। अनेकार्थक स्थल में प्रकरणादि अर्थ नियामकों द्वारा प्रासंगिक अर्थ में अभिधा का नियंत्रण हो जाने पर अन्य (अप्रासंगिक) अर्थ की प्रतीति शाब्दी अभिधामूला व्यंजना द्वारा होती है। ऐसे ही अभिधा और लक्षणा द्वारा क्रमशः वाच्य और लक्ष्य अर्थ की प्रतीति हो जाने पर प्रयोजन का ज्ञान शाब्दी लक्षणामूला व्यंजना द्वारा होता है।

आर्थी व्यंजना तीन प्रकार की होती है—(१) वाच्यार्थमूला, (२) लक्ष्यार्थमूला और (३) व्यंग्यार्थमूला। वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य ये त्रिविध अर्थ वक्ता, बोधव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, प्रकरण, देश, काल, चेष्टा, (वक्ता और बोधव्य से भिन्न) अन्य व्यक्ति के सान्निध्य आदि की सहायता से अर्थांतर को व्यक्त करते हैं। ये सहायक कुल कितने हैं यह कहना कठिन है। सभी आचार्य इनकी संख्या के अंत में 'आदि' लगा देते हैं। इससे प्रतीत होता है कि ये और भी अनेक हो सकते हैं। अतः इनकी निश्चित संख्या नहीं दी जा सकती।

व्यंजना के पूर्वोक्त भेदों में से कोई न कोई व्यंजना ध्वनि के प्रत्येक भेद में होती है जिसे एकमात्र 'साहित्यदर्पण' कार ने ही स्पष्ट घोषित किया है। उनके अनुसार 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' में लक्षणामूला और 'विवक्षितान्यपर-वाच्य-ध्वनि' में अभिधामूला व्यंजना होती है। इसे इस प्रकार और स्पष्ट किया जा सकता है। अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि के 'अर्थांतर-संक्रमित-वाच्य' भेद में 'प्रयोजनवती-उपादानलक्षणामूला-व्यंजना' होती है और उसी के 'अत्यंत-तिरस्कृत-वाच्य' भेद में 'प्रयोजनवती-लक्षणलक्षणामूला-व्यंजना' होती है। 'विवक्षितान्यपर-वाच्य-ध्वनि' के 'असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य' भेद में वाच्यार्थमूला व्यंजना होती है। वाचक शब्द अभिधा शक्ति द्वारा वाच्यार्थ-रूप विभावादिकों को उपस्थित करता है। तदनंतर वे विभावादिक रसादि-रूप व्यंग्यार्थ व्यक्त करते हैं। यहाँ यह प्रक्रिया इतनी शीघ्रता से होती है कि इसका क्रम लक्षित नहीं होता। इसी से इसे 'असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि' कहते हैं।

'विवक्षितान्यपर-वाच्य-संलक्ष्यक्रम-ध्वनि' के शब्दशक्तिमूलक भेद में अभिधामूला व्यंजना होती है। ऐसे स्थलों में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। प्रकरणादि अर्थ-नियामकों द्वारा अभिधा का प्रासंगिक अर्थ में नियंत्रण हो जाता है। अतः वह

दूसरा अर्थ उपस्थित नहीं कर सकती। फिर भी दूसरे अर्थ का ज्ञान तो होता ही है और वह ज्ञान भी किसी न किसी व्यापार द्वारा ही होता है। वह व्यापार और कोई नहीं व्यंजना ही है। क्योंकि अभिधा नियंत्रित हो जाने के कारण बेकार हो जाती है और मुख्यार्थ का बाध न होने से लक्षणा का प्रसार हो नहीं पाता। प्राचीन आलंकारिकों का यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता। प्रासंगिक अर्थ का ज्ञान होने पर अप्रासंगिक संकेतित अर्थ भी अभिधा द्वारा उपस्थित नहीं होता—ऐसा मान लेने के लिये कोई प्रबल तर्क नहीं दिखाई देता। वस्तुतः प्रासंगिक और अप्रासंगिक दोनों अर्थ वाच्यार्थ ही होते हैं। ऐसे ही 'विवक्षितान्यपर-वाच्य-संलक्ष्यक्रम-ध्वनि' के अर्थशक्तिमूलक भेद में आर्थी व्यंजना होती है। ध्वनि के ये ही मुख्य भेद वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि, संकर, संसृष्टि आदि भेदों से अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें से प्रत्येक में अभिधामूला, लक्षणामूला और आर्थी—इन त्रिविध व्यंजनाओं में से कोई न कोई अवश्य होती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के मत में व्यंजना शब्द और अर्थ दोनों का व्यापार है, किंतु विचार करने से व्यंजना व्यापार अर्थ का ही व्यापार ठहरता है। व्यंजना सर्वत्र आर्थी ही होती है, शाब्दी नहीं। क्योंकि व्यंग्यार्थ का शब्द के साथ प्रत्यक्ष कार्यकारण-भाव-संबंध नहीं है। कारण वही होता है जिसकी उपस्थिति कार्योत्पत्ति के नियत-पूर्व क्षण में अनिवार्यतया अपेक्षित होती है। किंतु व्यंग्यार्थ व्यक्त होने के नियत-पूर्व क्षण में शब्द उपस्थित नहीं रहता, कोई न कोई अर्थ ही उपस्थित रहता है। अतः व्यंग्यार्थ अर्थ से ही निकलनेवाला अर्थ है। द्वितीय अर्थ को प्रकाशित करने का कार्य पूर्व अर्थ किसी न किसी व्यापार द्वारा ही करता है। वह व्यापार अभिधा नहीं हो सकता। क्योंकि प्रथम अर्थ का द्वितीय अर्थ में संकेतग्रह नहीं रहता। यहाँ लक्षणा भी नहीं हो सकती। क्योंकि उसके हेतु मुख्यार्थ-बाधादि भी यहाँ नहीं रहते। जहाँ वे रहते हैं वहाँ तो लक्षणा ही मानते हैं। अतः परिशेषात् यहाँ व्यंजना व्यापार ही मानना पड़ता है और यह व्यापार शब्द से प्रत्यक्ष संबंध न रहने के कारण अर्थ का ही हो सकता है, शब्द का नहीं। प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि के जितने उदाहरण दिए हैं उनकी परीक्षा करने से यही सिद्धांत स्थिर होता है।

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के विषय में यह कहा जाता है कि यह वहीं होती है जहाँ अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। ऐसे स्थल में अभिधा का एक अर्थ में नियंत्रण हो जाने के कारण वह दूसरा अर्थ उपस्थित करने में अशक्त हो जाती है। अतः दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यंजना-व्यापार द्वारा होती है और वही दूसरा अर्थ व्यंग्य होता है। यह व्यंग्य केवल वस्तु-रूप अथवा केवल अलंकार-रूप हो सकता है। ध्वनिकार का मत इससे कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि यह ध्वनि ऐसे ही स्थल में होती है जहाँ वस्तु के साथ अलंकार भी शब्द की शक्ति से प्रकाशित होता है। जहाँ ऐसा न हो वहाँ शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नहीं हो सकती।[1] ध्वनिकार के इस कथन पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि

१—आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः॥

जिसे वे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि समझ रहे हैं वह श्लेष-रूप अलंकार से अलकारांतर की व्यंजना का उदाहरण है। यदि ऐसे स्थल में अलंकार व्यक्त करनेवाले द्वितीय अर्थ को वाच्य नहीं मानते तो यह द्वितीय अर्थ-रूपी वस्तु से अलंकार की व्यंजना का उदाहरण हुआ। दोनों ही अवस्थाओं में यह अर्थशक्तिमूलक ध्वनि के क्षेत्र में चला जाता है। अतः इसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि कहना भ्रम है।

अभिनवगुप्त का मत ध्वनिकार के मत से भिन्न प्रतीत होता है। इनके अनुसार अनेकार्थक स्थल में अभिधा का एक अर्थ में नियंत्रण हो जाने पर द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यंजना से ही होती है। यहाँ वस्तु के साथ अलंकार की व्यंजना होना आवश्यक नहीं है।[1] शब्दशक्तिमूलक ध्वनि केवल वस्तु-रूप तथा केवल अलंकार-रूप हो सकती है। साहित्य-शास्त्र के जो ग्रंथ उपलब्ध हैं उनको देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस सिद्धांत के प्रवर्तक अभिनवगुप्त ही थे। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में केवल वस्तु-रूप व्यंग्य भी हो सकता है इसे सर्वप्रथम उन्होंने ही प्रतिपादित किया है। बाद के मम्मटादि आचार्यों ने उन्हीं का अनुसरण किया है।

ध्वनिकार और अभिनवगुप्त के बीच के काल में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के तत्त्व पर बहुत वाद-विवाद हुआ। अनेक विद्वानों ने इस विषय में अपने मत व्यक्त किए। अभिनवगुप्त ने ऐसे चार प्रमुख मतों का संग्रह अपने 'लोचन' में किया है। उन मतों को जानने के पूर्व वह विवादस्थल भी जान लेना चाहिए जिसके कारण चार मत हो गए। विवादस्थल है—

'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवलाट्टहासो महाकालः।'

प्रासंगिक अर्थ—इसी बीच वसंत समय का उपसंहार करते हुए फुल्लमल्लिका-रूपी धवल अट्टहासवाला भयानक ग्रीष्म ऋतु आरंभ हुआ।

अप्रासंगिक अर्थ—फुल्लमल्लिका के सदृश धवल अट्टहासवाला महाकाल।

प्रासंगिक और अप्रासंगिक अर्थ की रूपणा—ग्रीष्म-रूपी महाकाल।

यह गद्य बाणकृत 'हर्षचरित' के द्वितीय उच्छ्वास से लिया गया है। ऋतुवर्णन के इस प्रकरण में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि की प्रतीति किस प्रक्रिया से होती है यह विवाद का विषय हुआ जिस पर विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हो गए। अभिनवगुप्त ने जो चार मत उद्धत किए हैं, वे क्रमशः निम्नलिखित हैं—

यस्मादलंकारो न वस्तुमात्रं यस्मिन् काव्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स एव शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विवक्षितः। वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः। —ध्वन्यालोक, पृष्ठ ९५, (काव्यमाला)।

१—अत्र ऋतुवर्णनप्रस्तावनियन्त्रिता अभिधाशक्तयः। अत एव 'अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी' इति न्यायमपाकुर्वन्तो महाकालप्रभृतयः शब्दा एकमेवार्थमभिधाय कृतकृत्या एव। तदनन्तरमर्थावगतिर्ध्वननव्यापारादेव शब्दशक्तिमूलात्। —लोचन, पृष्ठ ९९, (काव्यमाला)।

प्रथम मत[1]—इस वाक्य में प्रयुक्त 'महाकाल' आदि अनेकार्थक शब्दों की दूसरी अभिधा शक्ति पहले अप्रासंगिक अर्थ में भी देखी जा चुकी है। अतः केवल ऐसे प्रमाता को, जिसने पहले इन शब्दों की अभिधा शक्ति दूसरे अर्थ में भी देखी है, यहाँ नियंत्रित अभिधा शक्तिवाले इन शब्दों से द्वितीय अर्थ की प्रतिपत्ति ध्वनन व्यापार से ही होती है। इसलिये द्वितीय अर्थ में शब्दशक्तिमूलत्व तथा व्यंग्यात्मत्व दोनों हैं।

इस मत में मुख्य रूप से दो सिद्धांत बताए गए हैं। एक तो यह कि ऐसे स्थल में द्वितीय अर्थ की उपस्थिति केवल ऐसे प्रमाता को होती है जिसने प्रयुक्त शब्दों का अभिधा व्यापार द्वितीय अर्थ में भी देखा हो। जिसे द्वितीय अर्थ में संकेतग्रह नहीं हुआ है उसे द्वितीय अर्थ-रूपी व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। दूसरी बात यह कि ऐसे स्थल में प्रकरणादि द्वारा प्राप्त तात्पर्य शब्द के अभिधा व्यापार को प्रासंगिक अर्थ में ऐसा नियंत्रित कर देता है कि वह द्वितीय वाच्यार्थ को उपस्थित ही नहीं कर सकता। अतः द्वितीय अर्थ की उपस्थिति के लिये व्यंजना ही माननी पड़ती है।

उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों में से प्रथम सिद्धांत द्वितीय अर्थ के व्यंग्यार्थ होने का पोषण नहीं करता। उसके अनुसार तो द्वितीय अर्थ भी अभिधा द्वारा ही प्राप्त होता है। यदि वास्तव में द्वितीय अर्थ व्यंग्यार्थ है तो उसे केवल उन्हीं व्यक्तियों को नहीं प्रतीत होना चाहिए जिन्हें द्वितीय अर्थ में भी संकेतग्रह हुआ है। व्यंजना व्यापार द्वारा अर्थ-प्रतीति में व्यंग्यार्थ में संकेतग्रह की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये जिन्हें केवल प्रासंगिक अर्थ में ही संकेतग्रह हुआ है उन्हें भी द्वितीय अर्थ-रूपी व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जानी चाहिए। किंतु यह बात नहीं होती। अतः द्वितीय अर्थ को व्यंग्यार्थ नहीं माना जा सकता।

अब दूसरे सिद्धांत को लीजिए। प्रकरणादि अर्थ-नियामक शब्द के अभिधा व्यापार को ऐसा नियंत्रित कर देते हैं कि वह दूसरा संकेतित अर्थ उपस्थित ही नहीं करता—यह बात अनुभव से मेल नहीं खाती। वे केवल यह निर्णय कर सकते हैं कि शब्द के अभिधा व्यापार द्वारा उपस्थापित अनेक वाच्यार्थों में से एक वाच्यार्थ प्रासंगिक और मुख्यतया अपेक्षित है तथा दूसरा वाच्यार्थ अप्रासंगिक और अनपेक्षित अथवा गौणतया अपेक्षित है। वे द्वितीय वाच्यार्थ की उपस्थिति में प्रतिबंधक नहीं हो सकते। अनेकार्थक शब्दवाले वाक्य को सुनने पर प्रकरणादि का ज्ञान रहने पर भी सर्वदा प्रासंगिक अर्थ ही उपस्थित होता है यह बात अनुभव में नहीं आती; अथवा प्रासंगिक अर्थ ही पहले उपस्थित होता है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कुछ शब्दों के प्रासंगिक और कुछ शब्दों के अप्रासंगिक अर्थ उपस्थित होते हैं। कभी कभी अप्रासंगिक अर्थ पर ही पहले दृष्टि पड़ती है, किंतु प्रकरणादि के अनुकूल न होने से उसका ग्रहण प्रासंगिक अर्थ के पश्चात् किया जाता है। अतः यह नहीं माना जा सकता कि प्रकरणादि अप्रासंगिक अर्थ को अभिधा व्यापार द्वारा उपस्थित ही नहीं होने देते।

१—लोचन, पृष्ठ ९९, (काव्यमाला)।

प्रसंग से यहाँ एक प्रश्न और उठता है। अनेकार्थक स्थल में केवल एक शब्द, एक अभिधा व्यापार और अनेक अर्थ होते हैं अथवा एक शब्द, अनेक अभिधा व्यापार और अनेक अर्थ होते हैं अथवा अनेक शब्द, अनेक अभिधा व्यापार और अनेक अर्थ होते हैं। पहला पक्ष तो ठीक नहीं है• क्योंकि एक शब्द के अनेक अर्थ होने पर अभिधा व्यापार भी अनेक अवश्य होंगे। कार्य को देखकर कारण की कल्पना होती है। अतः यदि एक अभिधा का नियंत्रण भी हो जाय तो दूसरी अभिधा दूसरा अर्थ उपस्थित कर सकती है। ऐसी स्थिति में दूसरा अर्थ व्यंग्यार्थ नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे पक्ष में भी अनेक अभिधा व्यापार होने से द्वितीय अर्थ का व्यंग्य होना असिद्ध हो जाता है। जो लोग अनेकार्थक स्थल में शब्द भी अनेक मानते हैं उनका अभिप्राय यह है कि ध्वनि-साम्य के कारण दोनों शब्द एक दूसरे से ऐसे चिपके रहते हैं कि दोनों मिलकर एक ही प्रतीत होते हैं।

द्वितीय मत[1]—वह अभिधा ही (अप्रासंगिक अर्थ को उपस्थित करने में) ग्रीष्म के भीषण देवता विशेष के साथ सादृश्यात्मक अर्थ-सामर्थ्य की सहकारिता से अवलंबन करती है। इसी लिये वह ध्वनन व्यापार रूप कहलाती है।

इस मत के अनुयायी अप्रासंगिक अर्थ को अभिधा द्वारा उपस्थापित वाच्यार्थ ही मानते हैं। परंतु वह अभिधा आगे आनेवाले अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ को सहकारी कारण के रूप में अवलंबन करके अप्रासंगिक अर्थ को उपस्थित करती है। इसलिये उसी को व्यंजना कहते हैं।

इस मत का प्रथम दोष यह है कि इसमें प्रासंगिक और अप्रासंगिक अर्थ से आगे चलकर उपस्थित होनेवाला अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ अभिधा का सहकारी कारण मान लिया गया है। यहाँ अप्रासंगिक अर्थ इसलिये उपस्थित होता है कि अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ उपस्थित होनेवाला है—ऐसा नहीं है। वस्तुतः अप्रासंगिक अर्थ के उपस्थित होने से ही अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ निकलता है। अतः अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ को अप्रासंगिक अर्थ की उत्पत्ति में कारण मानना, कार्य को अपने कारण की उत्पत्ति में कारण मानना है।

इस मत का दूसरा दोष यह है कि इसमें अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ को अपना सहकारी कारण मान लेने से अभिधा को ही व्यंजना मान लिया गया है। अभिधा व्यापार कोई तिल्ली नहीं है कि व्यंग्यार्थ के संपर्क में आते ही स्वयं व्यंजना बन जाय। तिल्ली भी फूल के संपर्क में आकर स्वयं फूल नहीं बन जाती। उसकी कुछ सुगंध मात्र ले लेती है। दार्शनिक विचार के क्षेत्र में ऐसी बातों को स्थान नहीं मिल सकता।

इस मत पर सूक्ष्म विचार करने से यह प्रतीत होता है कि इस मत के अनुयायी भी वस्तु-व्यंजना के साथ अलंकार-व्यंजना का होना भी आवश्यक मानते हैं। जहाँ अप्रासंगिक अर्थ-रूपी द्वितीय अर्थ के साथ अलंकार-व्यंजना भी होती है वहीं यह ध्वनि

१—लोचन, पृष्ठ ९९, (काव्यमाला)।

होती है। ऐसे स्थल में इस मत के समर्थक अप्रासंगिक अर्थ और अलंकार दोनों को व्यंग्य मानते हैं। इस दृष्टि से उनका मत ध्वनिकार से मिलता है।

तृतीय मत[1]—शब्द-श्लेष की भाँति अर्थ-श्लेष में भी दूसरा अर्थ देखकर शक्तिभेद के आधार पर दूसरे शब्द की कल्पना करनी पड़ती है। यह कल्पना कदाचित् अभिधा व्यापार के बल पर होती है, जैसे दो प्रश्नों के एक ही उत्तर में। यदि कोई पूछे कि 'सफेद घोड़ा दौड़ रहा है या काला' और उसका उत्तर दिया जाय कि 'सफेद दौड़ रहा है', तो यहाँ 'काला नहीं दौड़ रहा है' यह अनायास समझ में आ जाता है। यहाँ विचारणीय यह है कि यह बात (काला नहीं दौड़ रहा है) कैसे समझ में आ गई। यहाँ पर इस अर्थ को व्यक्त करने के लिये उत्तर में कोई शब्द नहीं है। यह अर्थ व्यंग्यार्थ भी नहीं हो सकता क्योंकि इसमें कोई चमत्कार नहीं है। इसलिये यह वाच्यार्थ ही है। अतः इस अर्थ को देखकर यह कल्पना करनी पड़ती है कि इस अर्थ को उपस्थित करनेवाला कोई शब्द अवश्य है। ऐसे ही यदि किसी ने पूछा कि 'कौन दौड़ रहा है' और उत्तर दिया गया कि 'सफेद दौड़ रहा है', तो यह जिज्ञासा होती है कि इस अनिश्चित प्रश्न के उत्तर में निश्चित रूप से सफेद के ही विषय में क्यों कहा गया। इससे यह कल्पना होती है कि उत्तरदाता ने प्रश्न का यह अर्थ समझा कि 'सफेद दौड़ रहा है अथवा दूसरा' और सफेद के विषय में उत्तर दिया। जैसे यहाँ अभिधा के बल पर दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है वैसे ही शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के स्थल में भी द्वितीय अर्थ को देखकर दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है। ऐसे स्थल में कल्पित द्वितीय शब्द के द्वारा उपस्थापित अप्रासंगिक अर्थ वाच्यार्थ होने पर भी आगे आनेवाले अलंकार-रूप व्यंग्यार्थ का मूल होने के कारण व्यंग्यार्थ ही कहा जाना चाहिए।

इस मत में भी अभिधा को ही व्यंजना माना गया है। यह मत द्वितीय मत से दो बातों में भिन्न है। पहली बात तो यह है कि इसमें दूसरे शब्द की कल्पना की जाती है और उससे द्वितीय अर्थ की उपस्थिति होती है। दूसरी बात यह है कि इसमें अप्रासंगिक अर्थ को अलंकार-रूपी व्यंग्यार्थ का मूल माना गया है। किंतु द्वितीय मत में अलंकार-रूपी व्यंग्यार्थ को अप्रासंगिक अर्थ उपस्थित करने में अभिधा का सहकारी कारण माना गया है। यह मत भी अप्रासंगिक अर्थ तथा अलंकार दोनों को व्यंग्य मानता है। इस अंश में यह भी ध्वनिकार के मत से मिलता है। इस मत के अनुसार भी शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि में केवल वस्तु-ध्वनि नहीं होती इसके साथ अलंकार-ध्वनि भी अवश्य होती है।

चतुर्थ मत[1]—द्वितीय मत में व्याख्यात अर्थ के सामर्थ्य से द्वितीय अभिधा का प्रसव होता है। उससे अभिहित द्वितीय अर्थ व्यंग्य नहीं होता। द्वितीय अर्थ की उपस्थिति के पश्चात् उसकी प्रथम अर्थ में रूपणा होती है। यह रूपणा व्यंग्य है। इस अंश में अलंकार

१—लोचन, पृष्ठ ९९, (काव्यमाला)।

का बोध करानेवाला कोई शब्द न होने से अभिधा की शंका किसी को भी नहीं हो सकती। द्वितीय अर्थ उपस्थित करनेवाली शब्द-शक्ति ही इस व्यंग्य का मूल है। अतः इसे शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य कहना चाहिए। परंतु वस्तुतः यह अलंकार-व्यंजना ही है। द्वितीय अर्थ असंबद्ध न हो जाय इसलिये उसका प्रथम अर्थ के साथ उपमान-उपमेय-भाव माना जाता है।

यह मत सर्वाधिक स्पष्ट है। इसमें द्वितीय अर्थ वाच्यार्थ ही माना गया है। केवल अलंकारांश में व्यंजना मानी गई है। यहीं ध्वनिकार से इसका मतभेद है। इस मत के अनुसार भी शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में केवल वस्तु-ध्वनि ही नहीं हो सकती, द्वितीय अर्थ-रूपी वस्तु के साथ अलंकार का निकलना भी आवश्यक है। जहाँ केवल वस्तु-रूप अर्थ की उपस्थिति होती है वहाँ श्लेष होता है। वह ध्वनि का उदाहरण नहीं हो सकता।

इस मत में केवल एक दोष प्रतीत होता है वह यह कि इसमें अलंकार-रूपी व्यंग्यार्थ शब्दशक्तिमूलक माना गया है। वास्तव में यहाँ आर्थी व्यंजना है। इस प्रकार की व्यंजना को श्लेष-रूपी अलंकार से अलंकारांतर की व्यंजना का अथवा वस्तु से अलंकार की व्यंजना का उदाहरण मानना चाहिए।

यहाँ तक तो ध्वनिकार से लेकर अभिनवगुप्त के समय तक के आचार्यों के मतों का विवेचन हुआ। विषय की परिपूर्णता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि उन आचार्यों के मतों पर भी विचार कर लिया जाय जो अभिनवगुप्त के बाद के हैं, जैसे मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि। साथ ही ध्वनिकार से लेकर अब तक के सभी आचार्यों के उदाहरणों की परीक्षा भी हो जानी चाहिए जो उन लोगों ने अपने अपने मतों के समर्थन में दिए हैं।

नंदगाँव के 'आनंदघन'

[श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र]

'आनंदघन और घनआनंद' नामक ग्रंथ में यह दिखाया जा चुका है कि हिंदी में रचना करनेवाले 'आनंदघन' नाम के कई व्यक्ति हो गए हैं। एक थे जैन आनंदघन जिनका दूसरा नाम महात्मा लाभानंदजी था। इनका समय विक्रम की सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध है। इन्होंने 'चौबीसी' नाम से चौबीसों जैन तीर्थंकरों का प्रशस्ति-पाठ किया है। इस 'चौबीसी' की कई पंक्तियाँ सर्वश्री समयसुंदर (सं० १६७२), जिनराज सूरि (सं० १६७८), सकल चंद्र (सं० १६४०) और प्रीति-विमल (सं १६७१) के जिनस्तवन आदि ग्रंथों में आए पदों से ज्यों की त्यों मिलती हैं। इससे 'चौबीसी' का समय सं० १६७८ के अनंतर ही ठहरता है। इन जैन आनंदघन की प्रशस्ति लिखनेवाले श्री यशोविजय ने सं० १६८८ में दीक्षा ली और सं० १७४३ में स्वर्गवासी हुए। इसलिये जैन आनंदघन का समय वैक्रम सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध क्या, अंतिम चरण है।

शांति-निकेतन विश्वभारती के श्री क्षितिमोहनसेन[1] ने वीणा (नवंबर, १६३८) में 'जैन मर्मी आनंदघन' शीर्षक विस्तृत लेख लिखकर इन 'जैन आनंदघन' को 'मर्मी' अर्थात् रहस्यवादी तो बतलाया ही है साथ ही वृंदावन के दूसरे आनंदघन की रचनाओं को 'जैन आनंदघन' को रचनाओं से मिलाकर दोनों की अभिन्नता दिखाने का प्रयास किया है। वस्तुतः यह भ्रांति है। वृंदावनवासी आनंदघन (या घनआनंद) हिंदी के प्रसिद्ध सुजान-प्रेमी कवि हैं। इन्हें शिवसिंह सेंगर ने अपने 'सरोज' में "आनंदघन कवि दिल्लीवाले" कहा है। इनका समय उन्होंने सं० १७१५ दिया है। 'साहित्य-भूषण' के निर्माता श्री महादेवप्रसाद के कथनानुसार परंपरा में दिल्लीवाले 'आनंदघन' मुहम्मद शाह रँगीले के दरबारी माने जाते हैं। मुहम्मद शाह का राज्यकाल सं० १७७६ से १८०५ तक था। यदि यह बात सत्य हो तो 'सरोज' में दिया सं० १७१५ ठीक नहीं। सरोज के सन्-संवत् कवियों के रचनाकाल के सन्-संवत् हैं यह सिद्ध किया जा चुका है। इधर 'वृंदावनवासी आनंदघन' जी के कई ग्रंथ प्राप्त हुए हैं जिनसे उनके रचना-काल का पता चल जाता है। ऐसी सामग्री भी मिल गई है जिससे उनके निधन-काल का भी ठीक ठीक निश्चय हो जाता है। 'आनंदघन' जी ने 'मुरलिकामोद' में उसके रचना-काल का उल्लेख इस प्रकार किया है—

गोपमास श्रीकृष्ण सुचि।
सवत्सर अठानवे अति रुचि॥

यह संवत् १७६८ है इसे 'आनंदघन का निधन संवत्'[1] में भली भाँति सिद्ध किया जा चुका है। उसमें यह भी बताया गया है कि उनकी मृत्यु सं० १८१७ में वृंदावन में

१—आजकल, जून सन् १९४८ ई०, पृष्ठ १२।

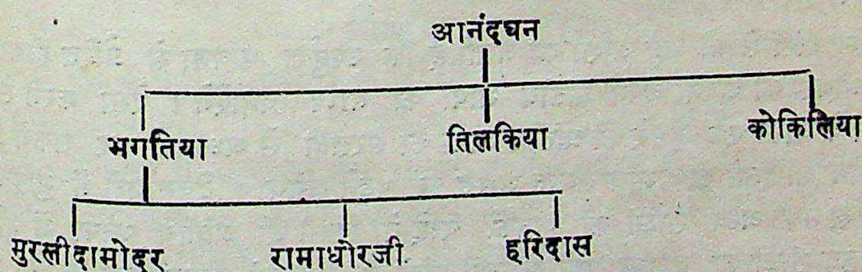
ही हुई थी। इस प्रकार उनका समय विक्रम की अठारहवीं शती का अंतिम चरण और उन्नीसवीं का प्रथम चरण निश्चित होता है। अतः वे 'जैन आनंदघन' से स्पष्ट भिन्न हैं। हिंदी में जिन आनंदघन या घनआनंद के कवित्त-सवैये बहुत प्रचलित हैं वे वृंदावनवासी आनंदघन ही हैं। वे हिंदी की परंपरा में कायस्थ-कुल के माने जाते हैं।

इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरे आनंदघन भी हैं। ये तीसरे आनंदघन नंदगाँव के थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के जीवनवृत्तों से प्रकट है कि वे सं० १५६३ में नंदगाँव गए थे। उस समय उन्होंने नंदगाँव के मंदिर में भगवद्दर्शन किए थे। उस मंदिर में श्रीनंदबाबा, श्रीयशोदा, श्रीबलराम और श्रीकृष्ण के विग्रह थे। इन विग्रहों की स्थापना श्री आनंदघनजी ने की थी। ये विग्रह श्री नंदीश्वर पर्वत से प्रकट हुए कहे जाते हैं और प्रकट करनेवाले श्री आनंदघनजी ही थे। आनंदघनजी श्री चैतन्यदेवजी से मिले थे अर्थात् उस समय वर्तमान थे। इस प्रकार नंदगाँववासी आनंदघनजी का स्थिति-काल विक्रम की सोलहवीं शती का उत्तरार्ध ठहरता है। ये ब्राह्मण-कुलोद्भव शुद्ध भक्त थे। इनके रचे दो-चार पद हैं जो नंदगाँव के मंदिरों में समय समय पर गाए जाते हैं।

इस प्रकार तीनों आनंदघनों का उपस्थिति-काल निम्नलिखित हुआ—

नंदगाँववासी आनंदघन	सोलहवीं शती का उत्तरार्ध
जैन आनंदघन	सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध
वृंदावनवासी आनंदघन	अठारहवीं शती का उत्तरार्ध

नंदगाँव के आनंदघन 'खरोट' गाँव के हैं। यह गाँव 'कोसीकलाँ' (मथुरा) के निकट है और आनंदघनजी के कुलवाले अब भी वहाँ रहते हैं। नंदगाँव के मंदिर के अधिकारी इन्हीं के वंशज हैं। आनंदघनजी के वंशजों का वृत्त यों है—



नंदबाबा की सेवा का भार भगतिया के उक्त तीनों वंशजों पर है। तिलकिया के वंशज मनसादेवी के मंदिर के अधिकारी हैं। कोकिलिया के वंशज श्रीयशोदानंदन की सेवा में रहते हैं। उल्लिखित विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी में जो कवित्त-सवैये और पद आदि रचनाएँ प्राप्त हैं वे वृंदावनवासी आनंदघन की हैं। ये अपनी छाप आनंदघन और घनआनंद दोनों रखते थे। कदाचित् इनका नाम घनानंद था। इससे यह सिद्ध है कि जैन आनंदघन की रचनाओं को छोड़कर हिंदी में इस नाम से प्रचलित रचनाएँ एक ही व्यक्ति की हैं। अतः उनका विचार इसी दृष्टि से होना चाहिए।

प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि

[श्री श्रीनिवास]

लिपि तथा लिपि के रूपांतर

यह मानी हुई बात है कि भारतीय वर्णमाला संसार की सभी वर्णमालाओं में अधिक वैज्ञानिक और सुगम है। भारतीय लिपियों का एकमात्र स्रोत अशोककालीन ब्राह्मी लिपि है। प्रांतीय लिपियाँ ब्राह्मी की रूपांतर मात्र हैं। सबमें उसके ही स्वर और व्यंजन हैं, एक क्रम है। जिस प्रांतीय भाषा में जिस स्वर या व्यंजन की ध्वनि का प्रयोग नहीं होता उस प्रांत-लिपि में वह स्वर या व्यंजन नहीं है। इनकी एकता के द्योतक भारत के विभिन्न भागों से प्राप्त हुए शिलालेख और ताम्रलेख हैं। ये हमारे देश की प्राचीन लिपि के प्रांतीय रूपांतर तथा समय समय के रूप बोधित करते हैं। इस लिपि के रूपांतर भोट (तिब्बत), ब्रह्मा (बर्मा), श्याम तथा अन्य पूर्वी प्रदेशों में आज भी प्रचलित हैं।[१]

देवनागरी लिपि

यद्यपि देश में अनेक प्रांतीय लिपियों का प्रयोग हो रहा है तथापि देश के विद्वान देवनागरी लिपि में ही लिखते-पढ़ते रहे हैं और संस्कृत तथा देवनागरी के माध्यम से देश की एकता और राष्ट्रीयता की रक्षा करते आए हैं। मध्यदेश और महाराष्ट्र ने तो प्रांतीय रूपांतरों को त्याग कर अपने नित्य के कार्य और भाषा के पठन-पाठन में देवनागरी को अपना लिया है।

अन्य प्रांतों से भी यही आशा की जाती है कि उपर्युक्त भावना से प्रेरित होकर वे भी देवनागरी को अपनी अपनी प्रांतीय भाषा का माध्यम बनाएँगे। ऐसा करने से सभी प्रांतों के वासी एक दूसरे की प्रांतीय भाषा का सरलता से अध्ययन कर सकेंगे। इससे प्रांतीय साहित्यों का प्रभाव समस्त भारत पर पड़ने लगेगा। देवनागरी में मुद्रित विज्ञान-शास्त्र तथा अन्य शास्त्रों की पुस्तकें, चाहे वे किसी भी प्रांतीय भाषा में हों समान संस्कृत शब्दों का बाहुल्य होने से सभी प्रांतों में पढ़ी एवं समझी जा सकेंगी। समय पाकर देश के प्रत्येक भाग में एक सर्वसामान्य भाषा व्यापक हो जायगी।

राष्ट्रलिपि

देवनागरी अपने मात्रा-विधान, आकृति, स्पष्टता और व्यापकता के कारण निश्चित रूप से देश की राष्ट्रलिपि होने की अधिकारिणी है, परंतु वर्तमान युग में मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक सार्वजनीन हो गया है और उसका संपर्क बाहरी देशों के साथ अधिकाधिक बढ़ता ही जा रहा है। इसलिये हमारी लिपि में भी कुछ आवश्यकताएँ बढ़

१—देखिए श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझाकृत भारतीय प्राचीन लिपिमाला।

गई हैं। इस संबंध में हमारी दृष्टि सदा से उदार रही है। समयानुसार लिपि को हमने बारंबार परिष्कृत किया है जो आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

मुद्रण में कठिनाई

देवनागरी लिपि की विशेषताओं को जानते हुए भी हमसे यह छिपा नहीं है कि लिपि के मुद्रण में प्रत्येक पंक्ति के लिये तीन पंक्तियाँ जटित (कंपोज) करनी पड़ती हैं— मध्य की पंक्ति वर्ण के लिये, ऊपर और नीचे की मात्राओं के लिये। अन्यथा एक मुद्रा (टाइप) पर दूसरी मुद्रा आंशिक रूप से चढ़ाकर जटित करनी पड़ती है। इस कठिनाई के अतिरिक्त लगभग ७०० स्वतंत्र मुद्राओं की आवश्यकता होती है जिन्हें हाथ से उठाकर यथास्थान रखना पड़ता है। इस कारण अत्यधिक समय, परिश्रम और द्रव्य लगता हैं। लाइनोटाइप, टाइपराइटर, टेलिप्रिंटर यंत्रों द्वारा इतने अधिक वर्णों का मुद्रण कदापि संभव नहीं है।

रोमक लिपि

रोमक लिपि में कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, उसमें मुद्रण-संबंधी कुछ ऐसी सुगमता है कि इस यंत्रयुग में वह व्यापक से व्यापकतर होती जा रही है। देश में इस मत के कुछ विशिष्ट व्यक्ति बढ़ते जा रहे हैं कि उसको राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार कर लिया जाय। अतएव इस सांस्कृतिक संकट के समय यह आवश्यक है कि देवनागरी लिपि का पुनः संस्कार करके हम उसे वर्तमान मुद्रण-युग के अनुकूल कर दें। यह कोई नई बात नहीं है। ऐसा रूपांतर समय समय पर पात्र, लेखनी तथा लेखक के अनुकूल बराबर होता आया है। इस प्रकार उसका रूप भावुकता के स्तर से ऊपर उठकर आधुनिक संघर्षयुग के अनुरूप हो जायगा।

लिपि का पुनः संस्कार

युग के अनुरूप राष्ट्रलिपि के पुनः संस्कार की बात देश के मनीषी सदा सोचते रहे हैं। यह विषय ऐसा है कि इस पर अविलंब विचार हो जाना चाहिए। नागरी लिपि के संस्कार के संबंध में नीचे हम कुछ सुझाव उपस्थित करते हैं। देश में आजकल नए परिवर्तन विद्युद्वेग से घटित हो रहे हैं। लिपि और भाषा के संबंध में भी विशेष परिवर्तन होंगे, इसलिये उदासीन रहने का समय अब नहीं रह गया। फलतः आशा है, नीचे लिखे सुझावों के संबंध में विद्वज्जन गंभीरतापूर्वक विचार करेंगे—

१. प्रत्येक स्वर-वर्ण का पूर्वार्ध समान रूप से 'ऊ' हो जो निमित्त मात्र रहे।
२. आंग्ल शब्द at और all में जो स्वर उच्चरित होते हैं उनके लिये वर्ण बढ़ाए जायँ।
३. स्वर-वर्णों का उत्तरार्ध भिन्न हो जिसे उस स्वर की मात्रा माना जाय।
४. 'अ', 'आ' स्वर-वर्णों का उत्तरार्ध (मात्रा) उनके पूर्वार्ध के बराबर रखा जाय किंतु जो स्वर जिह्वा की नोक से उच्चरित होते हैं जैसे ई, ए, उनके वर्णों का उत्तरार्ध (मात्रा) पंक्ति से ऊपर उठा हो तथा जो स्वर जिह्वामूल से उच्चरित होते हैं जैसे ऊ, ओ, उनके वर्णों का उत्तरार्ध (मात्रा) नीचे उतरा हो, जैसे रोमक अक्षरों में 'a', 'b' और 'p' के उत्तरार्ध क्रमशः पंक्ति से सम, ऊपर उठे और नीचे उतरे होते हैं।

५. जिस स्वर-संकेत या मात्रा में '॒' चिह्न लगाया जाय उसका उच्चारण—'॒' चिह्नरहित स्वर-संकेत या मात्रा से—आधा समझना चाहिए। इस '॒' चिह्न का अर्धक शब्द से व्यवहार किया जाय।

६. स्वर-वर्ण में ध्वनि-क्रम के अनुसार उपयुक्त मात्राओं को लगाकर संध्यक्षर बनाया जाय।

७. मात्रा अस्वर-व्यंजन (वह व्यंजन जो खड़ी रेखा रहित है) के पश्चात् लगाई जाय; पीछे, ऊपर, नीचे नहीं।

८. प्रत्येक अकारांत व्यंजन का उत्तरार्ध पूर्ण खड़ी रेखा-युक्त हो; रेखारहित होने पर शुद्ध व्यंजन अथवा अस्वर माना जाय।

९. संयुक्त अक्षर ध्वनिक्रम से वर्ण के पश्चात् उपयुक्त मात्रा रखकर बनाया जाय। पंक्ति में पहले अस्वर व्यंजनों को रखा जाय फिर मात्रा को बगल में, ऊपर नीचे नहीं।

१०. प्रत्येक अल्पप्राण वर्ण में एक सा चिह्न 'ऽ' लगाकर उस वर्ण का महाप्राण वर्ण व्यक्त किया जाय, जैसे 'प' से 'फ' होता है।

११. प्रथम तीनों वर्गों के तीसरे वर्णों में और पश्चात् के दोनों वर्गों के प्रचलित प्रथानुसार प्रथम वर्णों में अनुस्वार '०' चिह्न लगाकर उस वर्ग का पंचम वर्ण बनाया जाय, जैसे 'प' से 'म' होता है।

१२. 'क' का रूप 'क' (जैसा 'क्त' में है), 'श' का रूप 'श्' और 'र' का रूप '्र' (जैसा 'श्र' में होता है) केवल एक रूप प्रत्येक स्थल पर माना जाय।

१३. 'ङ', 'ह' में रूप लाघव किया जाय और उन्हें पूर्ण खड़ी रेखा-युक्त किया जाय।

१४. 'क' ट, ड, द और ह प्रत्येक अकारांत वर्ण पूर्ण खड़ी रेखा से युक्त रखा जाय।

१५. F, Zh, Z के लिये वर्ण बढ़ाए जायँ।

प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि

उपर्युक्त सिद्धांतों के अनुकूल केवल १२ स्वर चिह्न और २६ व्यंजन चिह्नों से संस्कृत, हिंदी तथा भारत एवं विशाल भारत की सभी भाषाओं के अतिरिक्त अँगरेजी और फारसी अरबी के उच्चारण शुद्ध व्यक्त किए जा सकेंगे। इस प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि का मुद्रण यंत्रों द्वारा सहज ही किया जा सकता है। इसमें मुद्राओं की संख्या कम होने से हाथ से जोड़ने (कंपोजिंग) में भी पहले की अपेक्षा सरलता तथा त्वरा दोनों प्राप्त हो जायँगी।

टेलिप्रिंटर

प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि का टेलिप्रिंटर जिसकी मुद्राओं का रूप और मुद्रण-विधि का विवरण आगे दिया जा रहा है, भारतीय भाषाओं में तथा आंग्ल भाषा में भी उतनी ही त्वरा से समाचार अंकित करेगा जैसे रोमक लिपि का टेलिप्रिंटर करता है।

टंकणयंत्र (टाइपराइटर), दूरटंकणयंत्र (टेलिप्रिंटर) मुद्रणविधि

१. स्वर वर्णों को मुद्रित करने के लिये प्रथम स्वर का पूर्वार्ध 'अ' चिह्न पश्चात् उसका उत्तरार्ध (मात्रा) चिह्न लगाया जाय। ह्रस्व स्वर एवं अर्धक स्वर अ, आ, ए, ओ के आधे उच्चारण के लिये अर्धक '_' चिह्न की अचल मुद्रा (कुंजी) उत्तरार्ध चिह्न के पहले लगाई जाय।

२. सस्वर अल्पप्राण व्यंजन के लिये प्रथम अस्वर व्यंजन चिह्न पश्चात् उपयुक्त मात्रा लगाई जाय। जैसे रोमक लिपि में 'प' के लिये $\overset{1}{P}\overset{2}{A}$ उसी प्रकार यहाँ $\overset{1}{\text{ट}}\overset{2}{\text{ा}}$।

३. सस्वर महाप्राण व्यंजन के लिये प्रथम अस्वर व्यंजन पश्चात् महाप्राण का अचल चिह्न अंत में उपयुक्त मात्रा लगाई जाय। जैसे 'फ' के लिये $\overset{1}{P}\overset{2}{H}\overset{3}{A}$ तैसे यहाँ $\overset{1}{\text{ट}}\overset{2}{\text{ा}}\overset{3}{\text{ा}}$।

४. संयुक्ताक्षर के लिये ध्वनिक्रम से अस्वर व्यंजनों को रखा जाय अंत में उपयुक्त मात्रा लगाई जाय जैसे कर्म = कर्म, क्रम = क्रम। जिस स्थल पर अस्वर महाप्राण रखना हो वहाँ उसके अल्पप्राण वर्ण के पश्चात् महाप्राण का अचल चिह्न भी लगा लिया जाय। जैसे 'उच्छ्वास = उच्छ्वास।

५. टंकण-सुविधा-निमित्त अस्वर 'ङ्', 'ञ्' के लिये अनुस्वार अर्थात् शून्य चिह्न लगाया जाय।

६. अनुनासिक, विसर्ग, महाप्राण और ह्रस्व चिह्नों की कुंजियाँ अचल रखी गई हैं।

मुद्राओं का स्थान और उनकी गति इत्यादि की व्यवस्था इन यंत्रों के निर्माता विशेषज्ञ स्वयं अनुभव के अनुसार निश्चित करेंगे। विरामादि अन्य चिह्नों के लिये २३ कुंजियों पर का द्वितीय स्थान अभी रिक्त है।

साक्षरता का माध्यम

शिक्षण, लेखन और मुद्रण के सौकर्य को ध्यान में रखते हुए सरल भ्रमरहित प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि को, जिसका रूप आगे दिया गया है, देश में साक्षरता का माध्यम बना सकने के संबंध में आप अपनी संमति तथा लिपि की समुन्नति के लिये यथोचित सुझाव देने का अनुग्रह करें।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित लिपि-उपसमिति के मंतव्य और विचार

२४, २५ ज्येष्ठ संवत् २००२ को समिति ने अपने प्रथम अधिवेशन में सर्वसंमति से यह निश्चय किया कि

१. उपयोगिता और प्रचार की दृष्टि से वर्तमान नागरी लिपि में सुधार और पुनः संस्कार करने की आवश्यकता है।

२. क. हिंदी भाषा की जिन उच्चरित ध्वनियों के लिये प्रचलित वर्णमाला में वर्ण नहीं हैं उनके लिये नवीन संकेत स्थिर करना।

ख. भारत की विभिन्न प्रांतीय भाषाओं की विशेष ध्वनियों को व्यक्त करने के लिये संकेत बनाना।

ग. अन्य विदेशी भाषाओं की विशेष ध्वनियों के लिये संकेत स्थिर करके नागरी लिपि को ऐसा व्यापक रूप देना जिसमें समस्त भाषाएँ लिखी जा सकें।

३. आवश्यकतावश नागरी लिपि का पुनः संस्कार करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखा जाय—

क. लिपि के प्रचलित रूप से प्रतिसंस्कृत लिपि का यथासंभव अपार्थक्य और अनुच्छेद बनाए रखना।

ख. लेखन-सौकर्य और मुद्रण-सौकर्य के लिये प्रयत्न करना।

ग. संयोग-स्थलों में संयुक्त वर्णों की ऐसी आकृति रखना जिसके पहचानने में भ्रांति न हो।

घ. सौंदर्य की रक्षा करना।

४. किसी सुधार और संस्कार पर सभा की स्वीकृति दिलाने के पहले जितने महत्त्वपूर्ण प्रयत्न अब तक लिपि को उपयोगी बनाने के लिये किए गए हैं, उन्हें एकत्र करके उन पर विचार करना।

इस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिये देश के प्रमुख हिंदी पत्रों में यह प्रार्थना प्रकाशित की गई थी कि इस दिशा में कार्य करनेवाले सज्जन और संस्थाएँ अपने अपने प्रयत्न की सूचना और सामग्री समिति के पास भेजने की कृपा करें।

समिति का दूसरा अधिवेशन ६ श्रावण संवत् २००२ को सभा-भवन में हुआ।

डा० धीरेंद्र वर्मा का पत्र पढ़ा गया। इसमें डाक्टर महोदय ने उन्हीं बातों की चर्चा की थी जो समिति के प्रथम अधिवेशन में स्वीकृत निश्चय २ में आ चुकी हैं।

समिति के विचार में

१. अभी केवल हिंदी और संस्कृत के लिये उपर्युक्त लिपि का ही सुधार किया जाना चाहिए।

२. पठन-पाठन और लेखन में सरलता लाने का उद्देश्य सिद्ध करने के लिये लिखित और मुद्रित लिपि का रूप एक ही होना चाहिए।

३. यद्यपि प्रचलित रीति के अनुसार संयुक्ताक्षरों को ऊपर नीचे लिखने तथा मात्राओं को ऊपर, नीचे, आगे, पीछे लगाने की स्वतंत्रता हस्तलिपि में बरती जा सकती है, तथापि मुद्रण-सौकर्य के लिये यह आवश्यक है कि नागरी लिपि के संयुक्ताक्षर और मात्राएँ दाहिनी ओर बगल में एक ही पंक्ति में लगाई जायँ।

इसके पश्चात् समिति ने आगत और प्राप्त मुख्य मुख्य प्रयत्नों और योजनाओं पर विचार किया। स्वरों और व्यंजनों के संबंध में जो सुझाव और सुधार इनमें दिखाई दिए उनका संक्षेप नीचे दिया जाता है।

क. स्वरों के संबंध में एक को छोड़कर प्रायः सभी योजनाओं में 'अ' की बारह खड़ी बनाई गई है।

ख. संयुक्त व्यंजनों को प्रायः एक ही पंक्ति में रखने की विधि स्वीकृत की गई है।

सुधार के इन प्रयत्नों में केवल श्री श्रीनिवास का प्रयत्न समिति को विशेष संगत प्रतीत हुआ। इन्होंने समूचे 'अ' की बारह खड़ी नहीं की है जो विज्ञान और व्यवहार दोनों की दृष्टि से भ्रामक और अशुद्ध है। ये 'अ' के असंकेतित अतएव निरर्थक अंश 'ऽ' के साथ भिन्न भिन्न उत्तरार्ध (मात्राओं) का प्रयोग करके स्वरों का बोध कराते हैं। ऐसा करने से स्वरों में समानता भी आ गई है और प्रत्येक स्वर का लिपिगत रूप भी भिन्न हो गया है। इनकी स्वर लिपि में एकमात्रिक ह्रस्व और द्विमात्रिक दीर्घ परंपरा का निर्वाह भी है। श्री श्रीनिवास प्रत्येक वर्ण की खड़ी रेखा पूर्ण या अपूर्ण को स्वर की मात्रा मानते हैं और उनके प्रयोग से वर्ण को सस्वर और अप्रयोग से अस्वर समझते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों में महाप्राण का कल्पित चिह्न लगाकर ये द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का बोध कराते हैं। पंचम वर्णों की आकृति भी ये भिन्न नहीं रखते, अपने अपने वर्ग के किसी अल्पप्राण वर्ण में अनुस्वार का चिह्न लगाकर उन्हें व्यक्त करते हैं जैसे 'प' में अनुस्वार का चिह्न '०' लगाकर 'म' होता है।

यद्यपि ये कल्पनाएँ नवीन हैं और प्राचीन रूपों से इनमें पार्थक्य बहुत है, तथापि टाइपराइटर या लाइनोटाइप द्वारा मुद्रण में इनसे बड़ी सुगमता आ जाती है। इस संबंध के कतिपय अन्य सुझावों से इनका यह सुझाव सर्वथा सरल और व्यवस्थित है, इसमें संदेह नहीं। इन सुझावों में समिति को दो बातें खटकती हैं। एक तो महाप्राण चिह्न इतना सूक्ष्म है कि उसके स्पष्ट न होने पर 'भाप' 'बाप' हो जायगा और दूसरे पंचम वर्ण लिखने में अनुस्वार का चिह्न किस अल्पप्राण में जोड़ा जाय यह अनिश्चित है। श्री श्रीनिवास से समिति अनुरोध करती है कि वे इन दोषों को दूर करने की चेष्टा करें।

अंत में समिति सभा को यह परामर्श देती है कि वह श्री श्रीनिवास द्वारा प्रतिसंस्कृत इस लिपि को देश के अधिकारी विद्वानों, विश्वविद्यालयों, साहित्य-संस्थाओं, मुद्रण-कार्यालयों तथा टाइपराइटर और लाइनोटाइप के निर्माताओं के पास आलोचना, संमति या समुन्नति की प्रार्थना के साथ भेजकर सबका मत संग्रह करे और अनुकूल मत प्राप्त होने पर इसके प्रचार का उपाय करे।

बाबूराव विष्णु पराड़कर	केशवप्रसाद मिश्र
वासुदेवशरण अग्रवाल	विश्वनाथप्रसाद मिश्र
रामचंद्र वर्मा	कृष्णानंद

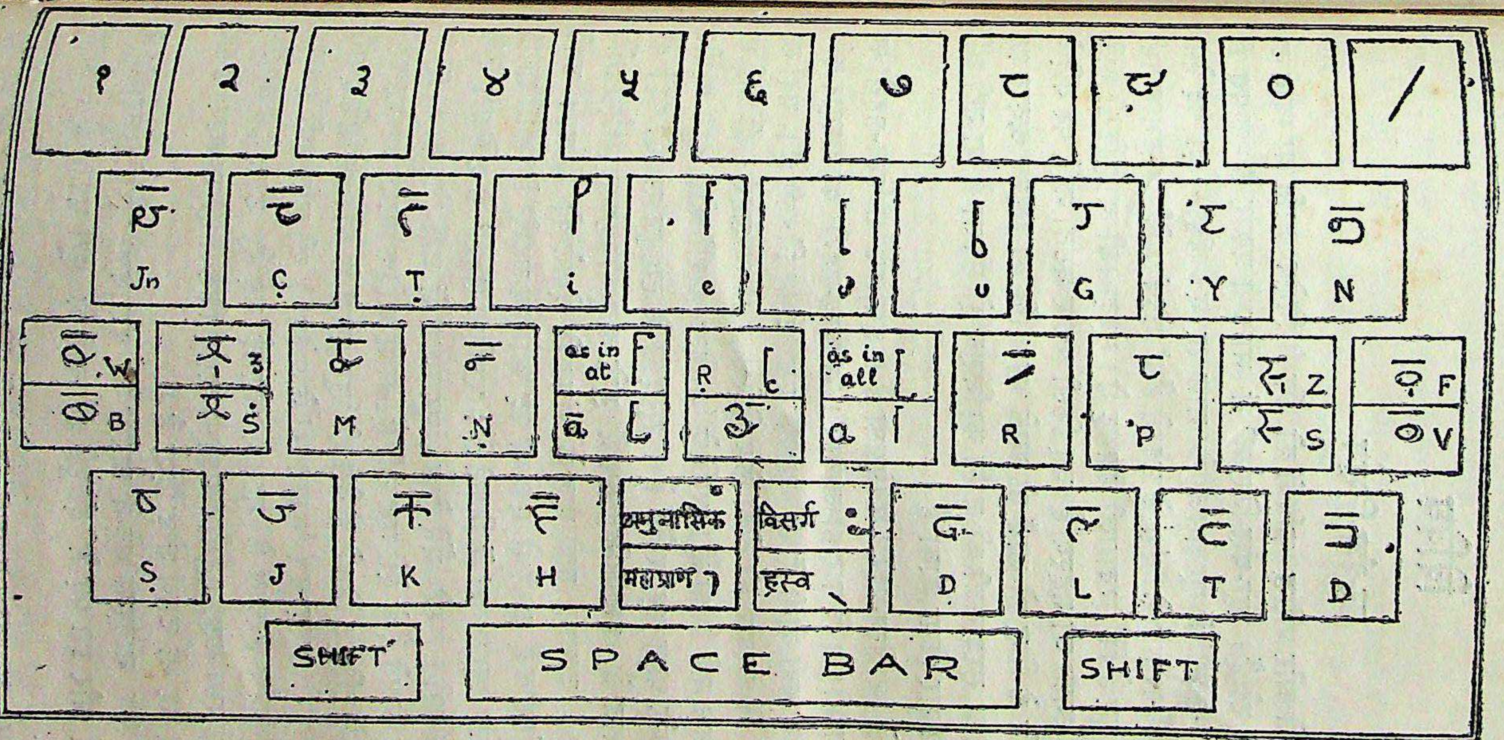
धीरेंद्र वर्मा

वर्णमाला

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
२	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
३	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
६	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

वर्णमाला की कुंजी

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	अ अर्धक	अ	आ अर्धक	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए अर्धक	ए
२	ओ अर्धक	ओ	action अर्धक	at दीर्घ	ought अर्धक	all दीर्घ	ऋ	अं	अः	अँ
३	क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
४	ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
५	प	फ	ब	भ	म	य	र	ल	व	श
६	ष	स	ह	Z	F	treasure	ळ	क्ष	श्र	ज्ञ



इस प्रतिसंस्कार के संबंध में एक मुद्रणयंत्र-विशेषज्ञ का अभिमत—

लाइनोटाइप ऐंड मैशिनरी लिमिटेड, कलकत्ता ३१।१२।४६

डिअर मिस्टर श्रीनिवास,

नो स्ट्रक्चरल ऑल्टरेशन्स् टु एक्जिस्टिंग लाइनोटाइप्स वुड बी नेसेसरी ऐज योर स्कीम वुड परमिट ऑव् स्टैंडर्ड लाइनोटाइप्स बीइंग यूज्ड फॉर दि सेटिंग ऑव् हिंदी ऐंड किंड्रेड लैंग्वेजेस्।

योर्स सिंसिअरली,

टी० किंग।

विविध

सूर-वंश-निर्णय

इधर हिंदी में पुराने और प्रसिद्ध कवियों को किसी विशेष जाति या स्थान का सिद्ध करने के प्रयत्न कई हो रहे हैं। 'सूर-वंश-निर्णय'[1] में भी इसी प्रकार के एक पक्ष की बातें दी गई हैं। 'साहित्य-लहरी' में सूरदासजी के नाम पर एक लंबा-चौड़ा पद ऐसा दिया गया है जिससे वे चंदवरदाई के वंश के ठहरते हैं।[2] भट्टवंश के महानुभाव तभी से यह सिद्ध करने में लगे हुए हैं कि सूरदासजी ब्रह्मभट्ट थे। सूरदासजी चाहे किसी जाति या स्थान के हों हिंदी में उनका जो महत्त्व है वह किसी प्रकार घटता नहीं, पर यदि वे निश्चित रूप से किसी जाति के सिद्ध हो जायँ तो उससे उस जाति का महत्त्व अवश्य बढ़ सकता है। इस पद को लेकर सूरदासजी की जाति का निर्णय हो सकता है या नहीं इसी पर बहुत संक्षेप में यहाँ विचार किया जाता है।

यह पद सबसे पहले 'साहित्य-लहरी' में मिलता है। इसलिये 'साहित्य-लहरी' पर विचार करने से ही उसका भी कुछ विचार हो जायगा। 'साहित्य-लहरी' पर सरदार कवि की पुरानी टीका है। इधर खड़ी बोली में भी उसकी एक टीका निकली है। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सरदार की टीका के अतिरिक्त 'साहित्य-लहरी' की कोई भी हस्तलिखित प्रति आज तक नहीं मिली है। इसलिये 'साहित्य-लहरी' कोई बहुत प्राचीन रचना है, इस संबंध में मुझे बहुत बड़ा संदेह है। सूरदास के दृष्टिकूट-संबंधी पदों का एक संग्रह, जो 'शतक' मात्र है, हस्तलिखित रूप में मुझे बाबू बालकृष्णदास (स्वर्गीय राधाकृष्णदासजी के पुत्र) उपनाम बल्ली बाबू के संग्रह से देखने को मिला। उसमें दृष्टिकूट के जितने पद संगृहीत हैं उनमें से एक भी पद 'साहित्य-लहरी' में नहीं मिलता, पर उस दृष्टिकूट के सारे पद 'सूरसागर' में मिलते हैं। 'साहित्य-लहरी' के दृष्टिकूटों में से कोई दृष्टिकूट, जहाँ तक छानबीन करके मैंने देखा, 'सूरसागर' में नहीं मिलता। सूर के जो दृष्टिकूट 'सूरसागर' में मिलते हैं वे ऐसे गूढ़ नहीं हैं जिसमें अधिक माथा मारना पड़े। विद्यापति की रचना में जैसे दृष्टिकूट मिलते हैं वैसे ही 'सूरसागर' में भी। इसलिये हमारी धारणा है कि 'साहित्य-लहरी' सूरदास ('सूरसागर' के प्रणेता) की कृति नहीं है। वह किसी भाट की रचना है और सूरदास के नाम पर चलाई गई है, ठीक वैसे ही जैसे तुलसी के नाम पर कड़खा रामायण, हनुमानचालीसा आदि कितनी ही रचनाएँ चलाई गई हैं। उसी भाट ने यह पद भी उसमें जोड़ दिया है।

चंदवरदाई के वंशज नानूराम भट्ट ने अपनी जो वंशावली 'पृथ्वीराजरासो' के सिलसिले में दी है उसमें और इस पद में दी हुई वंशावली में पूरी एकता है। केवल

१—लेखक—श्रीकृष्णदेव शर्मा, एम० ए०; प्रकाशक—सरस्वती मंदिर, गोवर्द्धन।
२—'महाकवि चंद अने पृथ्वीराज रासो' नामक गुजराती पोथी में भी इसी आग्रह की पुनरावृत्ति है।

एक पुरखे के नाम में ही उलटफेर है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि नानूराम भट्ट की वंशावली भी सरदार आदि की सटीक 'साहित्य-लहरी' के उक्त पद के आधार पर ही बनी है। इस पद में जिन घटनाओं का उल्लेख है उन्हें भी ऐतिहासिक और आध्यात्मिक पक्ष में लोग घटाया करते हैं। ऐतिहासिक पक्ष का अर्थ ही कुछ संगत प्रतीत होता है और उसके अनुसार पेशवों के समय का संकेत मिलता है जो 'सूरसागर' के रचयिता के समय के बाद की घटना है। अतः इस पद के आधार पर सूरदास को ब्रह्मभट्ट सिद्ध करना, मेरी दृष्टि में, ऐतिहासिक महत्त्व की बात नहीं। इस पद पर जिन लोगों ने विचार किया है उन्होंने उसकी प्रामाणिकता की पूरी छानबीन नहीं की है, ऐसी मेरी धारणा है। विस्तार से इसपर स्वतंत्र रूप से फिर कभी विचार करूँगा।

— विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

निरुक्त के एक अशुद्ध पाठ का संशोधन

यास्कीय निरुक्त की सबसे प्राचीन टीका दुर्गाचार्य[1] की है। उन्होंने अपनी टीका में निरुक्त के अनेक अपपाठों की ओर संकेत किया है, कई संशोधन किए हैं तथा कई स्थानों पर "सम्यक् पाठोऽन्वेष्यः, ततो योज्यम्" लिखा है। उनके अनंतर स्कंद[2] और महेश्वर[3] ने भी अपनी टीकाओं में निरुक्त के अनेक अपपाठों का उद्धार किया है। इससे स्पष्ट है कि निरुक्त में अति प्राचीन काल से अपपाठ चले आ रहे हैं।

निरुक्त के इस समय जितने संस्करण उपलब्ध हैं उनमें स्वर्गीय डा० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा संपादित संस्करण सबसे अच्छा है। संस्करण के संपादन-काल तक स्कंद-महेश्वर की टीका उपलब्ध नहीं हुई थीं और नैरुक्त संप्रदाय का अत्यंत उपयोगी ग्रंथ वाररुच 'निरुक्त-समुच्चय' भी अप्रसिद्ध था। अतः उसके संपादन में इन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का उपयोग नहीं हुआ। इस समय वैदिक साहित्य का जितना वाङ्मय उपलब्ध है उसके आधार पर निरुक्त के सर्वांगपूर्ण शुद्ध संपादन की महती आवश्यकता है।

कुछ समय हुआ निरुक्त १.१४ के एक अपपाठ की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। इस लेख में उसी की विवेचना है। निरुक्त का पाठ इस प्रकार है—

> सन्त्यल्पप्रयोगाः कृतोऽप्यैकपदिकाः। यथा—व्रततिर्दमूना जाट्य **आट्णारो** जागरूको दर्विं होमीति।

इसमें 'आट्णार' पद विवेचनीय है। निरुक्त के पाठ से यह स्पष्ट है कि यहाँ उदाहृत समस्त पद कृदंत हैं। निरुक्त के दुर्ग और स्कंद दोनों टीकाकारों ने 'आट्णारः' को कृदंत मानकर इसका अर्थ 'अटनशील' किया है। मेरे विचार से यहाँ 'आट्णार' पद अशुद्ध है। इसके स्थान में 'अट्णार' पाठ होना चाहिए। समस्त वैदिक साहित्य में

१—आचार्य दुर्ग ईसा की प्रथम शती में विद्यमान थे।—देखिए डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप-संपादित 'निरुक्त पर स्कंदस्वामिन् तथा महेश्वर की टीकाएँ', भूमिका, भाग ३-४, पृष्ठ १०१, सन् १९३४ ई०।—संपादक।

२—स्कंदस्वामी का समय पाँचवीं शती का अंत और छठीं शती का आरंभ है।—देखिए वही, पृष्ठ ६५।—संपादक।

३—महेश्वर बारहवीं शती के हैं।—देखिए वही, पृष्ठ ८०।—संपादक।

'आट्णार' पद तद्धित प्रत्ययांत के रूप में प्रयुक्त हुआ है। उपर्युक्त निरुक्त पाठ में तद्धित प्रत्ययांत का पाठ इष्ट नहीं है। वहाँ कृदंत का पाठ होना चाहिए। तद्धितांत 'आट्णार' की प्रकृति 'अट्णार' है और वह कृदंत है। यह शतपथ ब्राह्मण ११।५।४।४ के निम्नलिखित पाठ से स्पष्ट है—

एते एव पूर्वे अहनी अभिजिदति रात्रः। तेन ह पर 'आट्णार' ईजे कौसल्यो राजा। तदेतद् गाथयाभिगीतम्—

अट्णारस्य परः पुत्रोऽश्वं मेध्यमबन्धयत्।
हैरण्यानाभः कौसल्यो दिशः पूर्णा अमंहत॥

यहाँ 'आट्णार' तद्धित प्रत्ययांत है और यह हिरण्यनाभ कौसल्य के पुत्र 'पर' का विशेषण है। इस पाठ से यह भी व्यक्त है कि 'आट्णार' हिरण्यनाभ का विरुद है। हिरण्यनाभ अंतिम अवस्था में संन्यासी हो गया था। अतः उसका 'अट्णार' विरुद युक्ति-युक्त है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि निरुक्त १।१४ के उपर्युक्त पाठ में 'आट्णार' के स्थान में 'अट्णार' पाठ चाहिए।

अब हम 'आट्णार' पद के प्रसंग से वैदिक वाङ्मय के वे सब स्थल उपस्थित करते हैं जहाँ यह पद 'पर' के विशेषण रूप में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हुआ है—

१—एतं हैवैतमुद्गीथं पर आट्णारः कक्षीवान्…………। जै० उ० ब्राह्मण २।६।११।
२—एतं वै पर आट्नारः कक्षीवानौशिजो…………अचिन्वत। तै० सं० ५।६।५।
३—एतं वै पर आङ्नारः कक्षिवानौशिजो…………अचिन्वत। का० सं० २२।३।
४—ताण्ड्य ब्राह्मण २५।१६।३ में 'पर आह्णार' पाठ है।
५—शांख्यायन श्रौत १६।६।११-१३ में भी 'पर आह्णार' पाठ है।
६—आनंदाश्रम-मुद्रित निरुक्त दुर्ग टीका के मूल निरुक्त के पाठ में 'आट्नार' पाठ है और टीका में 'आट्णार'।

इन उद्धरणों में 'आट्णार' के 'आट्नार', 'आह्णार' और 'आङ्नार' रूपांतर उपलब्ध होते हैं, परंतु इन सब रूपांतरों में 'अट्णार' पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि इसी का मूल रूप 'अट्णार' अटनार्थक 'अट्' धातु से निष्पन्न हो सकता है। 'अट्णार' का संबंध भी 'अट्' धातु से हो सकता है, परंतु अधिक ग्रंथों का पाठ 'आट्णार' ही है। 'आङ्नार' और 'आह्णार' निश्चय ही अपपाठ हैं। यह भी इस विवेचना से स्पष्ट है।

'अट्णार' पद निरुक्तकार यास्क के काल-निर्णय में भी महान् सहायक है। इसका उपयोग अभी तक किसी विद्वान् ने नहीं किया। 'अट्णार' विरुदवान् हिरण्यनाभ कौसल्य का काल यद्यपि अभी कुछ विवादास्पद है तथापि अनेक विद्वानों का यही मत है कि हिरण्यनाभ कौसल्य का काल भारत-युद्ध से कुछ पूर्व था।[1] निरुक्त में हिरण्यनाभ कौसल्य के विरुद 'अट्णार' का पाठ होना इस बात का प्रमाण है कि यास्क उससे अवर-कालीन हैं अर्थात् हिरण्यनाभ कौसल्य उसकी पूर्व सीमा है।

—युधिष्ठिर।

१—श्री भगवद्दत्तकृत भारतवर्ष का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १२१।

समीक्षा

आर्यसंस्कृति के मूलाधार—आचार्य बलदेव उपाध्याय; प्रकाशक—शारदा-मंदिर, बनारस; प्रथम संस्करण; मूल्य ५॥)।

ग्रंथ का विषय इसके नाम से ही स्पष्ट है। इसमें उन महत्त्वपूर्ण रचनाओं का सांगोपांग विवेचन है जिनकी आधारशिला पर भारतीय संस्कृति का गगनचुंबी प्रासाद खड़ा है। वैदिक परंपरा की आलोचना के साथ ही बौद्ध और जैन संप्रदाय की विचार-धाराओं और दर्शनों का परिचय देकर आर्यसंस्कृति के व्यापक स्वरूप तथा उदार दृष्टि को स्पष्ट कर दिया गया है। यद्यपि जैन तथा बौद्ध संप्रदायों में वेदों की प्रामाणिकता मान्य नहीं है, तथापि उनके धर्म और दर्शन का विकास वेदों के शीर्षस्थानीय उपनिषदों से तो संबंध रखता ही है। इसके अतिरिक्त बौद्धों और जैनों की संस्कृति भी वैदिक धर्मानुयायियों से भिन्न नहीं है। अतः वे भी इस विशाल आर्यसंस्कृति के ही अंग हैं।

यह ग्रंथ बारह परिच्छेदों में पूर्ण हुआ है। प्रथम परिच्छेद में वर्ण, आश्रम, कर्मवाद, जन्मांतरवाद, अवतारवाद और मुक्ति आदि तत्त्वों की सुंदर समीक्षा की गई है। संक्षेप में, ये सभी भारतीय संस्कृति के ही स्वरूप हैं। पश्चिमीय भाषा में 'रिलीजन' और 'कल्चर' इन दो शब्दों के द्वारा जो कुछ प्रतिपादित होता है, उन सबका समावेश 'धर्म' शब्द के अंतर्गत है—ऐसा बताकर 'धर्म' के व्यापक रूप का दिग्दर्शन कराया गया है। संस्कृति के स्वरूप का परिचय देते समय लेखक के निम्नांकित विचार ध्यान देने योग्य हैं—'संस्कृति शब्द का अर्थ है—मन को, हृदय को तथा उनकी वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना और उदात्त बनाना। संस्कृति के जितने अंग हैं, उन सब अंगों का एक ही प्रधान लक्ष्य होता है—शिक्षा तथा संस्कारों के द्वारा मन को शिक्षित, संस्कृत और उच्च बनाना।' आपकी राय में भारतीय संस्कृति की तीन विशेषताएँ हैं, जो तकार से आरंभ होती हैं—'त्याग, तपस्या और तपोवन।'

द्वितीय परिच्छेद से अष्टम तक वैदिक साहित्य, ब्राह्मणभाग, वेदांग, इतिहास, पुराण, दर्शन और धर्मशास्त्र का गंभीर विवेचन है। दर्शनशास्त्र में गीता के अध्यात्म और व्यवहारपक्ष को भी स्पष्ट किया गया है। नास्तिक और आस्तिक दर्शनों के क्रमिक विकास पर भी विचार हुआ है। नवम परिच्छेद में तंत्रशास्त्र की सुंदर आलोचना है। तांत्रिक आचार के संबंध में जो भ्रांत धारणाएँ फैली हुई हैं, उनका निवारण करने की चेष्टा की गई है। तंत्राचार और कुलाचार का स्वरूप बताया गया है। शैवतंत्र के पाशुपत, शैव, वीरशैव, प्रत्यभिज्ञा आदि सिद्धांतों का प्रामाणिक विवेचन किया गया है। द्वादश में पुनः आर्यसंस्कृति की संक्षिप्त मीमांसा के साथ ग्रंथ का उपसंहार हुआ है।

इस प्रकार एक छोटे से ग्रंथ में आर्यसंस्कृति के अगाध तत्त्वों का इतना सुंदर संकलन गागर में सागर की प्रतिष्ठा के समान आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। प्रत्येक

आर्यधर्मावलंबी को एकाग्रचित्त से इस ग्रंथ का स्वाध्याय करना चाहिए। इसके द्वारा हिंदी में एक बड़े अभाव की पूर्ति संभव हुई है। श्री उपाध्यायजी अपनी अतुल ज्ञान-संपत्ति से हिंदी-साहित्य का भांडार भरने का जो स्तुत्य प्रयास कर रहे हैं, इसके लिये हिंदी जगत् आपका सदा आभारी रहेगा। इस पुस्तक से आर्यसंस्कृति के स्वरूप तथा उसके मौलिक आधारों का परिचय प्राप्त करने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार।

क्रांतिकारी कवि 'निराला'—लेखक–बच्चनसिंह एम० ए०; प्राप्तिस्थान—युगाश्रय, विश्वेश्वरगंज, काशी; मूल्य २॥।)।

'क्रांतिकारी' विशेषण की जितनी सार्थकता 'निराला' के साथ है, संभवतः हिंदी के किसी अन्य कवि के साथ नहीं। वस्तुतः छायावाद-युग में भाव, विषय एवं शैली तीनों में एक साथ नवीनता की क्रांति उत्पन्न करनेवाले ये प्रथम कवि हैं। इसी कारण लेखक ने पुस्तक का नामकरण 'क्रांतिकारी कवि 'निराला' करना उचित समझा है। प्रस्तुत ग्रंथ में लेखक ने किसी वाद की संकीर्ण भाव-धारा से प्रभावित न होकर कवि की कारयित्री प्रतिभा को ही प्रधान मानकर विषय-प्रतिपादन किया है। उसने कवि की सच्चे अर्थों में आलोचना की है। उसके ग्रंथ में गुण और दोष दोनों का यथास्थान उल्लेख हुआ है। समीक्षा के लिये अपेक्षित शास्त्रीय पद्धति का यथास्थान निर्वाह होने के कारण पुस्तक में विषय के उपयुक्त गंभीरता भी है।

ग्रंथ को आद्यंत पढ़ जाने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि 'निराला' जी का वैशिष्ट्य समझाने में प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा लेखक ने उपयोगी एवं प्रशंसनीय प्रयास किया है।

—पूर्णगिरि गोस्वामी।

विनय-पीयूष (द्वितीय हिलोर)—लेखक—श्री अंजनीनंदनशरण; प्रकाशक-पीयूष-धारालय, विट्ठल क्रीडाभवन, बड़ौदा; प्रथम संस्करण; मूल्य ३)।

'मानस-पीयूष' से परिचित जनता को 'विनय-पीयूष' से परिचित होते देर न लगेगी। 'पीयूष' नाम से ही कर्ता का स्मरण हो जाता है। विनयपत्रिका की यह टीका उसी शैली और संभार के साथ प्रकाशित हो रही है जिस शैली और संभार के साथ 'मानस' की टीका 'मानस-पीयूष' के नाम से प्रकाशित हुई थी। ग्रंथकार अपनी रचना सर्वांगपूर्ण बनाने में पूरा सफल हुआ है। क्या पाठ की दृष्टि से, क्या अर्थ की दृष्टि से, क्या व्याख्या की दृष्टि से 'विनयपत्रिका' संबंधी समस्त सामग्री एक ही स्थान पर प्रामाणिक रूप से एकत्र कर देने में लेखक प्रशंसा का पात्र है। यह ग्रंथ सभी प्रकार के लोगों के लिये उपादेय है। जिनकी अनुसंधान की प्रकृति है उन्हें इसमें अनुसंधान का मसाला मिलेगा, जो भक्त हैं उन्हें भक्ति के विशद रूप के दर्शन होंगे। इस टीका को पढ़कर सामान्य साक्षर से लेकर बड़े से बड़े विद्वान् तक तुलसी के इस अद्वितीय काव्य की तह तक सरलतापूर्वक पहुँच सकते हैं और उसकी सरसता में मग्न हुए बिना रह

नहीं सकते। संक्षेप में यह तिलक सद्गुण-संपन्न है और साहित्य की अनमोल कृति है।

—बटेकृष्ण।

गांधीजी (श्रद्धांजलियाँ १)—संपादक श्री कमलापति त्रिपाठी आदि; प्रकाशक-काशी विद्यापीठ प्रकाशन-विभाग, बनारस छावनी; प्रथम संस्करण; मूल्य १।।)।

मानवता के अन्यतम प्रतीक गाँधीजी के चरणों पर भारत की यह लिपिबद्ध श्रद्धांजलि है। गाँधीजी के चले जाने पर उनके प्रति हमारे नेताओं की भावनाएँ इस ग्रंथ में संगृहीत हैं। जिन्हें अक्षर-ज्ञान हो वे इसे पढ़कर जान लें और जो निरक्षर हों वे इसके चित्रों को देखकर समझ लें। ज्यों ज्यों समय बीतता जायगा और आज के लोग अतीत के स्मर्य व्यक्ति होते जायँगे त्यों त्यों इस ग्रंथ का महत्त्व बढ़ता जायगा।

— बटेकृष्ण।

प्राप्ति-स्वीकार

१—दिल्ली-डायरी—प्रकाशक-नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, मूल्य ३)।

२—महावीर-वाणी—प्रकाशक-श्री भारत जैन महामंडल कार्यालय, वर्धा; मूल्य ।।)।

३—वर्णाश्रम धर्म और समाजवाद—लेखक—श्री ईश्वरचंद्र शर्मा; प्रकाशक—गौतम बुकडीपो, नईसड़क, दिल्ली; मूल्य १)।

४—स्वतंत्र भारत—लेखक-श्री दशरथ ओझा; प्रकाशक-एस० गर्ग ऐंड कंपनी, देहली; मूल्य २।)।

५—हिमालय की यात्रा—लेखक—श्री दत्तात्रय बालकृष्ण कालेलकर; प्रकाशक—नव-जीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; मूल्य २)।

६—प्रेम-पंथ—लेखक—श्री वालजी गोविंदजी देसाई; प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; मूल्य ।)।

———

संपादकीय

देवनागरी लिपि का प्रतिसंस्कार

प्रचलित देवनागरी लिपि में प्रतिसंस्कार करने का प्रयास विगत कई वर्षों से हो रहा है और अनेक व्यक्तियों ने अपनी अपनी गति-मति के अनुसार उसमें प्रतिसंस्कार किए भी हैं। दक्षिणापथ में कुछ कामचलाऊ प्रतिसंस्कार किए गए और उनका व्यवहार भी कतिपय व्यक्तियों द्वारा किया जाने लगा। वहाँ दो प्रतिसंस्कार विशेष रूप से प्रचलित किए गए। एक तो स्वरों के लिये 'अ' की बारहखड़ी चलाई गई और दूसरे 'र' का आधा रूप 'रेफ' के लिये रखा गया और वह अनुगामी वर्ण के ठीक ऊपर न रखकर कुछ पहले रखा गया। ये दोनों सुधार ठीक नहीं हुए। 'अ' में मात्रा लगाने से वस्तुतः वह दो स्वरों के संयोग का द्योतक होता है, न कि एक स्वतंत्र स्वर का। मात्राएँ स्वरों की प्रतिनिधि हैं। इसलिये 'अ' में 'ा' लगने से उसका उच्चारण 'ऐ' होना चाहिए। 'अ' की बारहखड़ी बनानेवालों को 'ओ' और 'औ' की देखादेखी ऐसा करने का साहस हुआ था। 'ओ' वस्तुतः 'अ' और 'उ' से मिलकर बना हुआ संयुक्त स्वर है। इसलिये पुराने हस्तलेखों में 'ो' मात्रा कहीं 'अ' के साथ लगी हुई मिलती है और कहीं 'उ' के साथ अर्थात् 'ओ' और 'उो'। यही स्थिति 'ए' की भी है। 'ए' 'अ' और 'इ' का संयुक्त रूप होने के कारण हस्तलेखों में 'अे' और 'इे' दोनों रूपों में दिखाई देता है। इनमें से पहला रूप तो बहुत प्रचलित रहा है। तंत्रों में स्वीकृत 'ए' के त्रिकोणात्मक स्वरूप के अति प्रचलन के ही कारण यह वर्तमान चलित रूप में दिखाई देता है।

'र' के संबंध में सुधारकों को स्थिति ठीक ठीक समझ में नहीं आई है। वस्तुतः 'र' के दो रूप हैं—(१) प्रचलित अधोलंबित रूप (र) और (२) कोणात्मक रूप जो संप्रति हिंदी और मराठी में अप्रचलित है (‸)। कैथी, मुंडा आदि कई लिपि-शैलियों में यह दूसरा रूप अब भी चलता है। '॰' वस्तुतः 'र' का ही कोणात्मक रूप है जो लेखन-सौकर्य के कारण अर्ध-वृत्ताकार हो गया है। संयुक्त वर्णों में 'र' अब भी अपने उसी कोणात्मक रूप को बनाए हुए है। 'क्र', 'प्र' आदि में 'र' का यही रूप है जिसे लोग भ्रमवश '्' ही समझते हैं। टवर्ग के 'ट' और 'ड' में यह अपने मूल रूप में स्पष्ट व्यक्त भी होता है। किंतु कुछ लोग भ्रांति के कारण 'ट्र' और 'ड्र' के स्थान पर 'ट्र' और 'ड्र' लिखने लगे हैं।

उत्तरापथ में हिंदी-साहित्य-संमेलन में लिपि-सुधार की जो चर्चा हुई उसमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात उस समय नहीं थी। उसमें 'क्ष', 'ज्ञ' और 'ख' के रूप बदलने का प्रयास दिखाई देता है और दक्षिणापथ की उक्त लिपि की ओर कुछ झुकाव प्रतीत होता है। 'क्ष' और 'ज्ञ' के वर्तमान स्वरूप भी तंत्रों से ही लिए गए हैं—यह ध्यान में रखना चाहिए।

इधर 'सभा' ने श्री श्रीनिवासजी की प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि पर विचार करते हुए नागरी के अधिक से अधिक जितने प्रतिसंस्कृत रूप प्राप्त हो सके उन्हें लिपि-

उपसमिति के समक्ष उपस्थित किया और उपसमिति ने उन प्रतिसंस्कारों को तुलनात्मक दृष्टि से देखकर श्री श्रीनिवासजी के प्रतिसंस्कार को विशेष संगत पाया। देखने को तो इसमें भी 'अ' की बारहखड़ी ही जान पड़ती है, किंतु वस्तुतः इसमें 'अ' का पूर्वार्ध स्वर-बोधक चिह्न माना गया है। इन्होंने मराठी 'अ' का पूर्वार्ध रूप (खड़ी रेखा रहित रूप) 'ঌ' को स्वर-बोधक चिह्न मान लिया है और उसमें विभिन्न स्वरों की मात्राएँ लगाकर समस्त स्वरों का पृथक् पृथक् रूप बनाया है। इनके ऐसा करने का कारण यह प्रतीत होता है कि व्यंजनों के साथ स्वरों का जब कभी संयोग होता है तब उनके (स्वरों के) उत्तरार्ध रूप अर्थात् मात्राएँ ही मिलाई जाती हैं, पूर्वार्ध का परित्याग कर दिया जाता है। इससे इन्होंने स्वरों के दो रूप माने—(१) पूर्वार्ध जो सामान्यतया स्वर रूप का बोधक है और (२) उत्तरार्ध जो स्वर के विशिष्ट रूप का बोधक है। 'अ' के भी इसी प्रकार दो खंड हुए और खड़ी रेखा उसकी मात्रा हुई। मराठी 'अ' के पूर्वार्ध को ही इन्होंने स्वर का प्रतीक इसलिये माना कि कई स्वरों के पूर्वार्ध में थोड़े हेरफेर के साथ प्रायः वैसा ही रूप मिलता है। इस प्रकार स्वरों के प्रतिसंस्कार में इन्होंने जो मार्ग ग्रहण किया है उससे देखने को तो 'अ' की बारहखड़ी जान पड़ेगी, पर वह बारहखड़ी नहीं है।

स्वरों के साथ व्यंजनों के प्रतिसंस्कार में भी वैज्ञानिकता है—यह विचारपूर्वक देखने से ज्ञात हो जाता है। प्रचलित पद्धति में 'क', 'ख' आदि व्यंजनों के 'अ'कार-युक्त और 'अ'कार-रहित या हलंत अथवा शुद्ध व्यंजनात्मक रूप एक से ही हैं। इसमें व्यंजन रूपों और संयुक्त वर्णों में दिखाई देनेवाले रूपों को एक ही प्रकार का रखने का प्रयास वैज्ञानिक दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। महाप्राण और पंचम अनुनासिक वर्णों में भी वैज्ञानिकता का अधिक ध्यान रखा गया है। ऐसा करने के प्रयास में श्री श्रीनिवासजी द्वारा प्रतिसंस्कृत रूप अधिकतर प्रचलित रूप से कुछ दूर हो गया है और आधुनिक शब्दावली में क्रांतिकारी कहा जाने लगा है। किंतु सम्यक् विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वैज्ञानिक दृष्टि से इससे उत्तम तथा प्रचलित रूप में अपेक्षाकृत कम संशोधनयुक्त दूसरा कोई स्वरूप अब तक सामने नहीं आया है।

'सभा' की लिपि-उपसमिति ने इन्हें मुद्रण और लेखन-सौकर्य दोनों दृष्टियों से कार्य करने का परामर्श दिया था। प्रतिसंस्कर्ता ने भरसक दोनों का ध्यान रखा है। मुद्रण-संबंधी सौकर्य की प्रशंसा तो यंत्र-विशेषज्ञों ने भी की है।

स्वरों के संबंध में पश्चिमी ध्वनिशास्त्र-विशारदों के मान-स्वरों की खोज और अपनी स्वर-संबंधी अर्धक की नूतन उद्भावना के कारण प्रतिसंस्कर्ता ने अनेक भाषाओं की आवश्यक स्वर-ध्वनियों का संग्रह भी इसमें अनायास कर लिया है। अन्य कल्पनाओं की विस्तार से मीमांसा करने का यह अवसर नहीं है, किंतु प्रतिसंस्कर्ता की अर्धक-संबंधी कल्पना का कुछ विचार करना अप्रासंगिक न होगा। संप्रति 'अ' और 'आ' स्वतंत्र स्वर माने जा चुके हैं और 'आ' को 'अ' का दीर्घ रूप मानने में आपत्तियाँ की गई हैं। पुराकाल में वैदिक प्रातिशाख्यों में ध्वनि-संबंधी क्या क्या विचार हुआ होगा—इसका पता चलना अब कठिन है। क्योंकि बहुत सी शाखाओं के प्रातिशाख्यों का पता अब नहीं चलता। पर स्थान स्थान पर जो शंका-समाधान और उच्चारण-संबंधी विचार

किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन विचारकों के ध्यान में बहुत सी वे कल्पनाएँ आ चुकी थीं जिनकी ओर आज स्वच्छंद रूप से विचार करने पर दृष्टि जाती है। 'ए' और 'ओ' के अर्धक के लिये विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। महाभाष्यकार पतंजलि ने

'ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्द्धमेकारमर्द्धमोकारं चाधीयते ।'

लिखकर बहुत पहले ही इसका संकेत कर दिया था। हिंदी की प्राचीन कविता में तो इसका प्रयोग भरा पड़ा है। 'आ'कार का अर्धक विलक्षण सा अवश्य प्रतीत होता है पर हिंदी के सवैयों में, क्या ब्रजभाषा क्या खड़ी बोली दोनों में, इसका यह रूप आता ही है। यदि वर्ण-वृत्त के छंदानुरोध को आवश्यक प्रमाण न माना जाय तो सूरदास के 'सूरसागर' में गोता लगाते ही ऐसे अनेक प्रयोग मात्रा-वृत्त में भी मिल जायँगे। जैसे,

कहा कमी जाके राम धनी।

—सूरसागर (सभावाला संस्करण) प्रथम स्कंध, संख्या ३९, पृष्ठ २२।

रहा 'अ' का अर्धक। यह भी 'सूरसागर' में ही मिल जाता है। देखिए—

ज्यौं त्यौं कोउ हरि नाम उचरै। निस्चय करि सो तरै पै तरै।

—'सभा' संस्करण, संख्या ४१५, पृष्ठ २५४।

अब विचारणीय यह है कि क्या प्राचीन ग्रंथों में ऐसे स्वरूपों की ओर विचारकों की दृष्टि गई है। ग्रंथों का आलोड़न करने पर पता चलता है कि अर्धस्वर या अंतस्थ 'व' के तीन रूप—गुरु, लघु तथा लघूतर—उच्चारण-भेद से प्राचीन शिक्षा-ग्रंथों में भी उल्लिखित हैं—

वकारस्त्रिविधः प्रोक्तो गुरुर्लघुर्लघूतरः।
आदौ गुरुर्लघुर्मध्ये पदान्ते च लघूतरः॥
पदान्ते पदमध्ये च वकारो दृश्यते यदा।
लघुरेव स मन्तव्यो ह्यन्यत्रापि लघूतरः॥
औकारे च पदे पूर्वे अकारे परतः स्थिते।
लघूतरं विजानीया दम्नावम्नि निदर्शनम्॥

—पाराशरी एवं अमोघानंदिनी शिक्षा।

'महाभाष्य'कार ने 'ए' और 'ओ' में 'अ' की आधी और 'इ' और 'उ' की डेढ़ मात्रा मानी है। इससे 'अ' के अर्धक रूप का कुछ संकेत मिलता है। सबसे बढ़कर बात तो 'मंजूषा' में शंका के रूप में उपस्थित की गई है; जहाँ द्रुत, मध्य और विलंबित रूपों का उल्लेख करके 'स्फोट' के नाम पर उनका खंडन किया गया है।[1] यह बतला

१—किं चैवं द्रुतमध्यविलम्बितासु प्रयत्नभेदेन चिराचिरकालोच्चारणजन्यत्वाद्भिन्नकालत्वभेदयोरापत्तौ ह्रस्वाकारस्यापि भेदे भिन्नकालत्वे चान्यतमवृत्तौ तपरकरणेऽन्यतमवृत्त्यावतो भिस ऐसोऽनापत्तेः। स्फोटांगीकारे तु न दोषः। जायमानेन चिरकालेन वैकृतध्वनिना तस्य चिरकालमुपलब्धावपि स्फोटे कालभेदाभावात्। तमेवायं द्रुतमुच्चारितवानन्यो विलम्बितमिति प्रत्यभिज्ञासत्त्वात्। ह्रस्वदीर्घादौ तु नैवमभेदप्रत्यभिज्ञा।

—श्रीनागेशभट्ट-विरचित 'वैयाकरण-सिद्धान्तलघुमंजूषा', प्रथम भाग, स्फोटनिरूपण, पृष्ठ २३३।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ५३—अंक २ [नवीन संस्करण] श्रावण-आश्विन—सं० २००५

'मुद्राराक्षस' का काल-निर्णय

[श्री चंद्रबली पांडे]

'मुद्राराक्षस' के 'म्लेच्छ' शब्द को पकड़कर प्रोफेसर विल्सन ने जो उसे मुस्लिम काल का सिद्ध करना चाहा था सो तो हवा हो गया, पर अभी उसके रचना-काल का ठीक-ठीक पता न लगा। प्रसिद्ध जर्मन गणक याकोबी ने उसमें आए चंद्रग्रहण के आधार पर जो समय निर्धारित किया वह साहित्यिकों को प्रायः भा गया और लोगों ने 'भरतवाक्य' के एक फूटे अंश को लेकर उसे कश्मीर के अवंतिवर्मा के समय का बता दिया। जो लोग उनसे सहमत न हो सके उन्होंने 'मुद्राराक्षस' के 'हूण' शब्द को पकड़ा और उसी 'भरतवाक्य' के उसी अंश के आधार पर उसे कन्नौज के अवंति वर्मा का राजकवि बना डाला। 'मुद्राराक्षस' की तिथि के लिये लोग इस प्रकार उलझ ही रहे थे कि उधर इतिहास की भेरी बजी और 'मुद्राराक्षस' का समय चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का शासन-काल माना गया। प्रमाण के लिये पूरा 'भरतवाक्य' ही सामने आ गया। अब विद्वानों की मंडली में खलबली मची और लोग विशाखदत्त की चिंता में लगे फिर भी उनकी चिंता एकांगी और संकीर्ण ही रह गई।[1] निदान सोचा गया कि 'मुद्राराक्षस' के विषय में कुछ अपनी रामकहानी भी सुना दी जाय और फिर देखा जाय कि कहाँ तक लोग उसके लिये कान करते हैं।

यह तो कहने की बात नहीं कि अभी तक 'मुद्राराक्षस' के काल-निर्णय में प्रायः 'प्रस्तावना' और 'भरतवाक्य' से ही विशेष काम लिया गया है, अतएव हमारा भी कर्तव्य है कि हम पहले उन्हीं को साधु मीमांसा की दृष्टि से देखें। सर्वप्रथम 'प्रस्तावना' को ही ले लीजिए। सूत्रधार रंगमंच पर आता और कहता है—

अलमतिप्रसङ्गेन। आज्ञापितोऽस्मि परिषदा यथाद्य त्वया सामन्तवटेश्वर-दत्तपौत्रस्य महाराज भास्करदत्त सूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिर्मुद्राराक्षसं नाम

१—उक्त विविध मतों की संक्षिप्त जानकारी के लिये देखिए श्री एम० कृष्णमाचारियर कृत हिस्ट्री आव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, मद्रास, सन् १९३७ ई०, पृ० ६०४-७।

नाटकं नाटयितव्यमिति। यत्सत्यं काव्यविशेषवेदिन्यां परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि सुमहान्परितोषः प्रादुर्भवति। कुतः

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते॥

तद्यावदिदानीं गृहजनेन सह सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अये किमिदम्। अस्मद्गृहे महोत्सव इवाद्य स्वस्वकर्मण्यधिकतरमभियुक्तः परिजनः। तथाहि

वहति जलमियं पिनष्टि गन्धानियमियमुद्ग्रथते स्रजो विचित्राः।
मुसलमिदमियं च पातकाले मुहुरनुयाति कलेन हुङ्कृतेन॥

भवतु। कुटुम्बिनीमाहूय प्रच्छामि। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)

गुणवत्युपायनिलये स्थितिहेतो साधिके त्रिवर्गस्य।
मद्भवननीतिविद्ये कार्यादार्ये द्रुतमुपेहि॥[1]

नटी के आ जानेपर पूछता है—

कथय किमद्य भगवतां ब्राह्मणानामुपनिमन्त्रेण कुटुम्बकमनुगृहीतमभिमता वा भवनमतिथयः प्राप्ता यत एष पाकविशेषारम्भः।[2]

उत्तर में चंद्रग्रहण की बात सुनकर आश्चर्य करता और विश्वास दिलाता है कि चंद्रग्रहण के विषय में उसे धोखा हुआ है—

१—विस्तार से क्या लाभ? मुझे इस परिषद् ने आज्ञा दी है कि सामंत वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज भास्करदत्त के पुत्र कवि विशाखदत्त द्वारा रचित मुद्राराक्षस नामक नाटक का तुम्हें अभिनय करना चाहिए। यह निर्विवाद है कि काव्यविशेष की पारखी इस सभा के समक्ष इस नाटक को प्रस्तुत करते मुझे भी परितोष होता है। क्योंकि—

यदि क्षेत्र अच्छा हो तो मूर्ख की भी कृषि बढ़ती है। धान की बाल की वृद्धि बोनेवाले के गुणों पर अवलंबित नहीं होती।

इसलिये तबतक परिवारवालों के साथ संगीत का आयोजन करूँ। (घूमकर और चारों ओर देखकर) अरे! यह क्या? मेरे घर में तो आज कोई महोत्सव सा है। परिचारिकाएँ अपने अपने काम में विशेष रूप से संलग्न हैं। वैसे ही—यह जल ले जा रही है, यह सुगंधित वस्तुएँ पीस रही है, यह विचित्र मालाएँ गूँथ रही है और यह मूसल के गिरने की क्रिया का मधुर हुंकार के साथ अनुसरण कर रही है।

होगा भी। पत्नी को बुलाकर पूछूँ (नेपथ्य की ओर देखकर) हे गुणवति! सब उपायों की खान! स्थिति की कारण! त्रिवर्ग की साधिके! मेरे घर की नीति विद्यास्वरूपिणी! आर्ये! कार्य के लिये शीघ्र ही आओ।

२—बताओ तो, क्या आज ब्राह्मणों को निमंत्रित कर कुटुंब को अनुगृहीत किया है अथवा अभिमत अतिथि आए हैं, जो भोजन का यह विशेष आयोजन हो रहा है।

आर्ये ! कृतश्रमोऽस्मि चतुःषष्ठ्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे । तत् प्रवर्त्यतां भगवतो ब्राह्मणानुद्दिश्य पाकविशेषः । चन्द्रोपरागं प्रति तु त्वं केनापि विप्रलब्धासि । पश्य

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रं सम्पूर्णमण्डलमिदानीम् ।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्
(नेपथ्ये । आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति ।)
रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥[1]

प्रकृत प्रस्तावना के जिस भाग पर विशेष ध्यान दिया गया है वह 'ग्रहण' का ही प्रसंग है। प्रोफेसर विल्सन ने 'महाराजभास्करदत्तसूनोः' की जगह 'महाराजपृथुसूनोः' को साधु मानकर 'पृथु' का अर्थ पृथ्वीराज कर लिया था, किंतु उनकी बात किसी को जँची नहीं। इसके बाद जिस अंश को लिया गया वह 'चंद्रग्रहण' का प्रसंग है। कुछ विद्वानों ने इसको सत्य मानकर इसकी खोज की है और याकोबी महोदय के कथन को ठीक मान लिया है। उनकी दृष्टि में यह २ दिसंबर सन् ८६० ई० की बात ठहरी। इस तिथि को सत्य समझ लेने पर फिर कश्मीर के अवंति वर्मा के अतिरिक्त और कोई शासक सामने ही नहीं आता। पर क्या यह ठीक है ? स्वयं 'मुद्राराक्षस' की साखी इसके पक्ष में है ? 'मुद्राराक्षस' में कश्मीर-नरेश जिस रूप में अंकित किए गए हैं वह रूप यह है—

भासुरक ! आज्ञाप्यतां सेनापतिः शिखरसेनः । य एते राक्षसेन सह सुहृत्तामुत्पाद्यास्मच्छरीरद्रोहेण चन्द्रगुप्तमाराधयितुमुद्यताः पञ्च राजानः कौलूतश्चित्रवर्मा, मलयनरपतिः सिंहनादः, काश्मीरः पुष्कराक्षः; सिंधुराज सिंधुषेणः, पारसीकाधिराजो मेघाक्ष इत्येतेषु त्रयः प्रथमे मदीयां भूमिं कामयन्ते । ते गम्भीरं श्वभ्रमभिनीय पांशुभिः पूर्यन्ताम् । इतरौ तु हस्तिबलकामौ हस्तिनैव घात्येतामिति ।[2]

मलयकेतु के इस कोप का परिणाम होता है—

१—आर्ये ! चौसठ अंगवाले ज्योतिषशास्त्र को मैंने अच्छी तरह मथा है। यह जो ब्राह्मणों के लिये भोजन बन रहा है उसे बनने दो, किंतु चंद्रग्रहण के संबंध में किसी ने तुम्हें धोखा दिया। देखो न केतु के साथ यह क्रूर ग्रह पूर्ण चंद्र का इस समय बरबस अभिभव करना चाहता है,······
(नेपथ्य में। अरे, मेरे रहते हुए चंद्रगुप्त को यह कौन दबाना चाहता है ?)
किंतु इस चंद्र को बुध का योग बचा लेता है।

२—भासुरक, सेनापति शिखरसेन को आज्ञा दो कि कौलूत चित्रवर्मा, मलयराज सिंहनाद, काश्मीराधिपति पुष्कराक्ष, सिंधुराज सिंधुषेण, पारसीकाधिराज मेघाक्ष ये पाँचो राजा राक्षस के साथ सद्भाव स्थापित कर हमसे वैर के कारण चंद्रगुप्त की सेवा के लिये उद्यत हुए हैं। इनमें से पहले तीन तो मेरी भूमि पर अधिकार करना चाहते हैं, उन्हें गहरे गड्ढे में डालकर मिट्टी से दबा दिया जाय। शेष दोनों नरपति मेरे हस्तिबल के इच्छुक हैं, उन्हें हाथियों से कुचलवा दिया जाय। (पंचम अंक; श्लोक २० के पूर्व)।

हा धिक्। घातिताश्चित्रवर्मादयस्तपस्विनः।[१]

'काश्मीरः पुष्कराक्षः' के संबंध में इतना और भी टाँक लीजिए कि मलयकेतु उनके लिये 'राज़ः'; 'नरपतिः', 'अधिराजः' आदि कोई भी उपाधि नहीं लगाता बल्कि 'काश्मीरः' कहकर रह जाता है। यह संमान की बात तो कही नहीं जा सकती, हाँ, अपमान की भले ही हो। ध्यान देने की बात है कि सिद्धार्थक ने राक्षस से 'काश्मीरदेशनाथः पुष्कराक्षः' कहा था और स्वयं मलयकेतु ने भी पाँच राजाओं में उसकी गणना की है, फिर भी क्रोध के समय केवल 'काश्मीरः' कहकर अपना कोप निकालता है। और नाटक में तो वह म्लेच्छ ही गिना गया है, फिर विशाखदत्त को कश्मीर का पिंडजीवी कैसे कहा जा सकता है। यदि आप सचमुच विशाखदत्त को परखना चाहते हैं तो इसी मलयकेतु के इसी प्रसंग के इस पद्य को पढ़ें और देखें कि उसके हृदय में कितना गहरा पानी है। मलयकेतु कहता है—

भागुरायण! कृतं कालहरणेन। साम्प्रतमेव कुसुमपुरमवरोधनाय प्रतिष्ठन्तामस्मद्बलानि।

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलधवलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य।
पांशुस्तम्बा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पतन्तु ॥[२]

कड़क तो होती है 'कुसुमपुर' में पर बिजली बहराती है 'गौड़' देश में। क्या इसका भी कुछ रहस्य है? क्यों विशाखदत्त 'मागधीनां' नहीं कहते और व्यर्थ में 'गौडीनां' पर टूट पड़ते हैं। गौड़ देश ने उनका क्या बिगाड़ा है? 'मुद्राराक्षस' में गौड़ का प्रसंग क्यों आया? प्रश्न टेढ़ा; पर सहज है। मगध कवि का प्रिय प्रदेश है। वह उसकी देवियों को रुला नहीं सकता। और 'गौड़'? गौड़ के विषय में याद रखिए कि वह कवि का शत्रु-देश है। वह उसे परास्त देखना चाहता है।

'गौडीनां' के इस रहस्य को खोलने के लिये हमें कुछ इतिहास का सहारा लेना पड़ेगा। गौड़ को देखते ही संभवतः कुछ लोगों के सामने शशांक का चित्र आ जायगा और उनकी दृष्टि चट कश्मीर के अवंति वर्मा से उतरकर कन्नौज के अवंति वर्मा पर आ जमेगी। पर उन्हें यहाँ भी निराश होना पड़ेगा। यह अवंति वर्मा के निधन

१—हा धिक्कार है, बेचारे चित्रवर्मा आदि राजा मरवा दिए गए। (वही; श्लोक २३ के उपरांत)

२—भागुरायण, समय व्यर्थ गँवाने की आवश्यकता नहीं। हमारी सेना कुसुमपुर को घेरने के लिये अभी प्रस्थान करे।

लोध्र के पराग से धवल, गौड़ी स्त्रियों के कपोलों को काला करती हुई, भौंरों की तरह काली, घुँघराली लटों के कृष्ण वर्ण को और गहरा करती हुई, घोड़ों के खुरों से उठाई गई और हाथियों के मद से छिन्नमूल यह धूल शत्रुओं के मस्तकों पर गिरे। (वही, श्लोक २४)

के उपरांत की बात हैं। दूसरे यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कन्नौज के लिये मगध और गौड़ एक ही थे। उनके साथ प्रायः सम व्यवहार था। वस्तुतः दोनों ही कन्नौज के शत्रु थे। फिर, भला यह कैसे संभव था कि विशाखदत्त कन्नौज के नाते मगध को तो छोड़ दें और गौड़ की दुर्दशा देखने को ललक उठें। सो भी उस समय जब उसका कोई प्रसंग ही न हो और यदि हो भी तो सर्वथा उसके विपरीत मगध के पक्ष में। निदान इसका कारण कहीं अन्यत्र ढूँढ़ना चाहिए।

इतना तो विदित ही है कि 'मुद्राराक्षस' का राजा चंद्रगुप्त है और चंद्रगुप्त का ही नाम 'भरतवाक्य' में भी आता है। अवंति वर्मा की खोज तो बाद में जोड़ भिड़ाने के लिये हुई है। उसे अभी यहीं छोड़ दीजिए और अब उस 'भरतवाक्य' पर विचार कीजिए। राक्षस चाहता है—

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवोऽवन्तिवर्मा ॥[1]

देखिए न, विद्वानों को अपनी खोज का इतना गर्व हो गया कि राक्षस के मुँह से अवंति वर्मा का मंगल करा दिया और इतना भी ध्यान न दिया कि इतना भयंकर काल-दोष किस पुराण के मुँह में समायगा। अतएव आप स्वभावतः पहले 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' को ही लीजिए और देखिए कि किसी चंद्रगुप्त के साथ उसकी तुक बैठती है या नहीं।

ढुंढिराज ने इसकी टीका में लिखा है—

भूतधात्री पृथ्वी प्रलयपरिगता प्रलयेनोपप्लुता सती प्राक्कल्पादौ अवनविधौ जगद्रक्षणविधाने अनुरूपां समर्थां वाराहीं तनुमाश्रित्यस्यात्मयोनेः स्वयंभुवः आदि-वराहमूर्तेर्भगवतः श्रीविष्णोर्दन्तकोटिं दंष्ट्राग्रं शिश्रिये आश्रिताभूत्। तस्यैव सम्प्रति राजमूर्तेः राजा चन्द्रगुप्त एव मूर्तिः शरीरं यस्य। 'ना विष्णुः पृथिवीपतिः' इति स्मरणात्। तथाभूतस्य भगवतो भुजयुगमधुना म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भूतधात्री संश्रितास्ते। श्रीमद्बन्धुभृत्यः श्रीमन्तः बन्धवो भृत्याश्च यस्य तथाभूतः अनेन बन्धुभृत्येभ्यः संपत्प्रदत्वमस्योक्तम्। पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः पार्थिवचन्द्रगुप्तरूपः स श्रीमाननादिविष्णुर्महीम-वतु रक्षत्वित्यर्थः। अत्र श्रीविष्णोश्चन्द्रगुप्तस्य चाभेदकथनादनुभयाभेदरूपकमलङ्कारः।[2]

1—रक्षा-कार्य के अनुरूप वराह-शरीर धारण करनेवाले जिन स्वयंभू के दाँत की नोक की शरण प्रलय से परिगत पृथ्वी ने पहले ली थी और उसी की राजमूर्ति की भुजाओं की शरण अब म्लेच्छों से उद्विग्न पृथ्वी ने ली है, वे राजा अवंति वर्मा, जिनके बंधु और भृत्य समृद्ध हैं, चिर काल तक पृथ्वी की रक्षा करें।

2—भूतधात्री पृथ्वी प्रलय से परिगत अर्थात् प्रलय से उपप्लुत होकर, पहले—कल्प के प्रारंभ में। अवनविधि का तात्पर्य है जगत् की रक्षा के विधान में, अनुरूप अर्थात् समर्थ शरीर धारणकर,

ढुंढिराज की टीका में कहीं चंद्रगुप्त की चिंता नहीं है। बौद्ध राक्षस बंधु-विनाशी मौर्य चंद्रगुप्त के लिये ऐसा मंगल क्यों करता है, इस पर उक्त टीकाकार का ध्यान न गया। वह तो आगे चलकर फिर इसी मीमांसा में मग्न हो गया कि

> इतिपद्येनादिवराहरूपधारिणो भगवतो महापुरुषस्य जगदुद्धरणगुणसङ्कीर्तन-रूपं मङ्गल विरचितवान्। अनेन मङ्गलाचरणेनोपास्योपासकभेदावस्थायामुपास्ययोर्हरिहरयोरभेदेनैवोपासनमखिलश्रेयः।[1]

'भरतवाक्य' के शब्दों में जो भाव भरा है उसकी ओर स्वर्गीय डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का ध्यान सबसे अधिक गया है और उन्होंने सिद्ध किया है कि सूत्ररूप में इसमें चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का पूरा जीवन आ गया है। उनका मत है—

"इसमें कवि ने 'अधुना' वर्तमान चंद्रगुप्त (जिसका अर्थ विष्णु होता है, चंद्र = स्वर्ण, चंद्रगुप्त = हिरण्यगर्भ) राजा की विष्णु से तुलना की। जैसे विष्णु ने इस पृथ्वी का उद्धार म्लेच्छ (असुर) से किया उसी प्रकार दंतकोटि शस्त्र से मारकर म्लेच्छ से चंद्रगुप्त पार्थिव ने भारतभूमि और ध्रुव (पृथ्वी) देवी का उद्धार किया। दोनों को रूप बदलना पड़ा था। चंद्रगुप्त ने शक्ति (ध्रुवदेवी) का रूप पकड़ा और विष्णु ने शूकरी तनु धारण किया। अर्थात् रक्षणकार्य में (अवनविधौ) अयोग्य पर जरूरी रूप धारण करना पड़ा।"[2]

स्वर्गीय डाक्टर जायसवाल ने जिस श्रम के साथ प्रकृत 'भरतवाक्य' का अर्थ लगाया है यदि उसी श्रम से काम लिया जाय तो 'मुद्राराक्षस' में स्थल-स्थल पर इस ओर संकेत मिलेगा। उदाहरण के लिये राक्षस का यह पद्य लीजिए—

आत्मयोनि अर्थात् स्वयंभू की आदिवराहमूर्ति भगवान् श्री विष्णु की दंतकोटि अर्थात् दंष्ट्राग्र का जिस पृथ्वी ने आश्रय लिया! अब उसी राजमूर्ति—राजा चंद्रगुप्त ही है मूर्ति शरीर जिसका। 'पुल्लिंगवाची विष्णु और पृथिवीपति पर्याय हैं,' इस नियम के कारण। इस प्रकार के भगवान् की दोनों भुजाओं का इस समय म्लेच्छों से उद्विग्न, भूतधात्री आश्रय लिए है। श्रीमद्बंधुभृत्य का अर्थ है समृद्ध व्यक्ति, जिसके बंधु और सेवक हैं, इस विशेषण से व्यक्त होता है कि यह राजा अपने बांधवों और भृत्यों को प्रभूत संपत्ति देता था। पार्थिव चंद्रगुप्तरूप वह श्रीमान् अनादि विष्णु पृथिवी की रक्षा करे। यहाँ श्री विष्णु और चंद्रगुप्त में अभेद बताने से अनुभयाभेदरूपक अलंकार है।

१—इस श्लोक से आदिवराह का स्वरूप धारण करनेवाले भगवान् महापुरुष के संसार के उद्धार संबंधी गुण के कीर्तन से मंगलाचरण किया। इस मंगलाचरण से उपास्य-उपासक-भेद की अवस्था में उपास्यदेव हरि तथा हर की अभेदोपासना ही समग्र श्रेय को देनेवाली है।

२—श्री गंगाप्रसाद मेहता कृत चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, प्रस्तावना, हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद सन् १९३२।

किमौषधपथातिगैरुपहतो महाव्याधिभिः ?
किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्तः क्रुधा ?
अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनं ?
किमस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशोऽवशः ?[1]

इनमें प्रथम और चतुर्थ प्रश्न के उत्तर से कोई प्रयोजन नहीं, पर द्वितीय और तृतीय के उत्तर विचारणीय हैं। प्रसंग के अनुरोध से पहले तृतीय प्रश्न का उत्तर सुनिए—

कर्णौ पिधाय। शान्तं पापम्। अभूमिः खल्वेषोऽविनयस्य।[2]

यहाँपर जिस 'अविनय' का उल्लेख किया गया है उसका पक्का आनंद उसी को मिल सकता है जो यह भलीभाँति जानता है कि

अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।[3]

और वही इसका रहस्य भी समझ सकता है जो यह जानता है कि इसी विशाखदत्त ने "देवी चंद्रगुप्त" नाम का एक नाटक भी लिखा है जिसमें चंद्रगुप्त के उस पराक्रम का उल्लेख है जिसका संकेत जायसवाल जी को यहाँ मिल रहा है। तृतीय प्रश्न का उत्तर और भी खुल जाता है—यदि आप द्वितीय प्रश्न के उत्तर के मर्म को समझ लें। तृतीय प्रश्न का वह उपदेशक उत्तर है—

एतदपि नास्ति। चन्द्रगुप्तस्य जनपदे न नृशंसाप्रतिपत्तिः।[4]

दुनिया जानती और स्वयं 'मुद्राराक्षस' प्रमाण है कि चाणक्य के चंद्रगुप्त के शासन में प्राणदंड प्रचलित था। नृशंसता का वहाँ अभाव न था। पर हाँ, चंद्रगुप्त-विक्रमादित्य ही एक ऐसा प्रतापी और प्रिय राजा हो गया है जिसके रामराज्य में प्राण-दंड नहीं था। तो क्या अब भी आप को संदेह है कि 'भरतवाक्य' का चंद्रगुप्त वास्तव में कौन है जो पृथिवी और श्री का उद्धार कर रहा है? यदि हाँ, तो थोड़ा और चलिए और फिर देखिए कि हमारा पक्ष क्या है।

संभवतः आप सोचते होंगे कि चर्चा तो 'गौड़ी' की चली थी और बात छिड़ गई वाराही की, अतएव लीजिए फिर 'गौड़ी' की पहेली आपके सामने है। आप थोड़ा कष्ट

१—क्या वह औषधों के प्रभाव से परे किसी महारोग से पीड़ित है? क्या अग्नि और विष के समान तीव्र राजा के क्रोध से वह निकाला गया है? क्या वह किसी दुर्लभ परस्त्री में अनुरक्त हो गया है? अथवा अवश्यम्भावी सुहृद्विनाश आप की ही तरह उसके भी नाश का कारण है!
(अंक ६, श्लोक १६)

२—कानों पर हाथ रखकर। पाप शांत हो। इस प्रकार के दुराचरण की इसमें संभावना नहीं है।

३—अरिपुर में परस्त्री-कामुक शकपति का स्त्रीवेषधारी चंद्रगुप्त ने विनाश किया। (बाणकृत हर्षचरित)

४—यह भी नहीं है। चंद्रगुप्त के राज्य में क्रूर विधान नहीं है।

कर दिल्ली के समीप मेहरौली के लोहे के स्तंभ पर दृष्टि डालें तो आपको लिखा मिलेगा-

> यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्
> वंगेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ।
> तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः
> यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलर्दक्षिणः ॥ १ ॥[१]

स्पष्टतः आपको यहाँ 'गौड़' तो नहीं दिखाई देगा पर तनिक विचार की आँख से देखने से प्रत्यक्ष हो जायगा कि यहाँ वंग देश में जो जमाव हुआ है, उसमें गौड़ भी अवश्य ही है, क्योंकि 'शत्रून्समेत्यागतान्' का यही अनुरोध है। साथ ही ध्यान देने की बात यह भी है कि यह प्रशस्ति सम्राट् चंद्र के निधन के उपरांत की है और 'मुद्राराक्षस' सम्राट् चंद्र के समय का। कहने का तात्पर्य यह है कि वंग और गौड़ में भेद स्थापित कर हमारी प्रकृत स्थापना दुष्ट नहीं सिद्ध की जा सकती। हम यह भी जानते हैं कि सम्राट् चंद्र के उत्तराधिकारी सम्राट् कुमारगुप्त के शासन में यही गौड़ उनकी 'भुक्ति' के रूप में था, जिसका अधिकार अवश्य ही उन्हें दाय में मिला था। अस्तु, हमारा निष्कर्ष है कि 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त ने इस 'गौड़ीनाम' का उल्लेख जानबूझकर किया है, और कुछ आश्चर्य नहीं कि इसका भोक्ता चिरातदत्त इसका कोई संबंधी भी रहा हो; क्योंकि उसके नाम के 'दत्त' और इनकी दत्त-परंपरा का अच्छा मेल हो जाता है। स्वयं विशाखदत्त भी तो किसी महाराज के पुत्र और दत्तधारी थे। एक बात और। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में 'कामरूपेश्वर' को कुछ विशेष रूप से देखा है। अज के वे कितने घनिष्ठ थे; इसका पता इसी से चल जाता है कि सभी लोगों को छोड़कर वे कामरूप के अधिपति का हाथ पकड़ते और उसी के साथ विवाह के लिये हाथी पर से उतरते हैं। तो क्या यह किसी घटना की ओर संकेत करता है? इसे तो इतिहास के पंडित ही बता सकते हैं कि इस वंगीय युद्ध में कामरूप का भी हाथ था अथवा नहीं। प्रतीत तो यह होता है कि इस घोर संग्राम का ही परिणाम था कि कामरूपेश्वर इतने प्रिय हो गए थे कि—

> ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
> वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ [२]

प्रसंग वश इतना और जान लीजिए कि यही कामरूपेश्वर रघुदिग्विजय में किस रूप में अंकित होते हैं। कालिदास कहते हैं—

१—वंग देश में जुटकर युद्ध करनेवाले शत्रुओं को युद्ध में (अपने) वक्ष से ढकेलकर हटाते हुए जिसके करवाल से भुजा पर कीर्ति अंकित की गई; युद्ध में सिंधु के सात मुखों को लाँघकर जिसने वाह्लीकों को परास्त किया; जिसके पौरुष की वायु से दक्षिण जलनिधि आज भी सुवासित है।

२—तब शीघ्र ही हथिनी से उतरकर कामरूप के राजा के सहारे उन्होंने विदर्भराज के दिखाए मार्ग से स्त्रियों के हृदय और भीतर के आँगन में एक साथ प्रवेश किया। (रघुवंश; सर्ग ७; श्लोक १७)

तमीशः कामरूपाणामत्याखंडलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥
कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥[1]

'पादयोः छायाम्' का क्या महत्त्व है इस पर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया। संभव है इसमें भी कुछ इतिहास बोल उठे।

यह तो हुई 'गौडीनाम्' की चिंता। अब कुछ 'मुद्राराक्षस' के म्लेच्छों को शोध का आधार बनाना चाहिए। चाणक्य जाल बिछाने की चिंता में मग्न है। लेख का विषय चल रहा है। सहसा सूझ पड़ता है—

आम्। उपलब्धवानस्मि प्रणिधिभ्यो यथा तस्य म्लेच्छराजलोकस्य मध्ये प्रधानतमाः पञ्च राजानः परया सुहृत्तया राक्षसमनुवर्तन्ते। ते यथा—

कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः
काश्मीरः पुष्कराक्षः क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः।
मेघाख्यः पञ्चमोऽसौ पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजो
नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥[2]

इन राजाओं में से 'कौलूत' और 'काश्मीर' के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं। इनका पता तो आज भी आसानी से चल जाता है। रही 'मलयनरपति' और 'सैंधव' की बात, सो उनके विषय में यह जान लेना चाहिए कि उनका दक्षिण का मलय और पश्चिम के सिंध से कोई संबंध नहीं। समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में "कामरूप-नेपालकर्तृपुरादि-प्रत्यन्त-नृपतिभिः" का जो उल्लेख हुआ है प्रत्यक्ष ही उसमें कहीं 'कुलूत', 'कश्मीर', 'मलय' एवं 'सिंधु' का नाम नहीं है। किंतु यदि हम ध्यान से देखें तो उसी क्रम में 'मलय' और 'पर्वतक' प्रदेश भी पड़ जाते हैं। 'कर्तृपुर' तनिक नीचे की ओर उतर आया है, नहीं तो 'मलय' भी उसी में आ जाता। मलयप्रांत के बारे में एक विद्वान् का मत है कि वह राप्ती और गंडकी के बीच में था। 'सिंधुदेश' के संबंध में तो कोई संदेह ही नहीं कि वह सिंधसागर द्वाब ही था। सैंधव (नमक और अश्व) इसी को पुष्ट करते हैं। 'पारसीक' के विषय में विवाद की कोई आवश्यकता नहीं। उसे आज

१—तब कामरूप के राजा जिन हाथियों से दूसरे राजाओं का आक्रमण रोकते थे उन्हीं हाथियों को लेकर इंद्र से बढ़कर पराक्रमी रघु की सेवा में उपस्थित हुए। कामरूपेश्वर ने सुवर्ण-पीठ के देवता रघु के चरणों की छाया की रत्न-रूपी पुष्पों से पूजा की। (रघुवंश सर्ग ४, श्लोक ८३-८४)

२—हाँ, दूतों से पता चला है कि उन म्लेच्छ राजाओं में मुख्यतया पाँच नृपति राक्षस के मित्र अनुयायी हैं। वे हैं कौलूत चित्रवर्मा, मलयराज पुरुषव्याघ्र सिंहनाद, कश्मीरेश पुष्कराक्ष, शत्रुघाती सिंधुनृपति सिंधुषेण और विशाल अश्ववाहिनी-धारी पारसीकाधिराज मेघ। इनका नाश करने के लिये चित्रगुप्त की भाँति मैं इनके नाम लिखता हूँ। (अंक १, श्लोक १९)

भी हम आसानी से पहचान सकते हैं। पर नहीं, 'मुद्राराक्षस' का पारसीकाधिराज आज के पारसीक-पति से कहीं विस्तृत भूमि पर राज्य करता था। 'मुद्राराक्षस' में केवल उसी को 'अधिराज' की उपाधि मिली है। वह मलयकेतु का राज्य नहीं चाहता। उसे तो सिंधुराज की भाँति 'हस्तिवल' चाहिए। वह मलयकेतु का हस्तिवल प्राप्त करना चाहता है और इस बल से ग्रीकों वा रोमकों को रौंदना।[१]

कौलूत, काश्मीर और मलयपति को मलयकेतु की भूमि प्रिय थी। उसका राज्य इन्हीं के मध्य में था। इसलिये उसे विश्वास भी हो गया कि ये पड़ोसी शासक ध्वस्त कर उसका राज्य भोगना चाहते हैं। मलयकेतु के प्रसंग में विशेष रूप से ध्यान देने और विचार करने की बात यह है कि उसका सेनापति शिखरसेन है। मलयकेतु की समझ में यह बात नहीं आती कि क्यों मगध के छँटे लोग अमात्य राक्षस को छोड़ कर उसके सेनापति शिखरसेन के द्वारा उसके पास आते हैं। वह व्यग्र हो अपने कपटी विश्वासपात्र भागुरायण से सस्नेह पूछता है—

सखे भागुरायण ! विज्ञप्तोऽहमिहागच्छद्भिर्भद्रभटप्रभृतिभिर्यथा वयममात्यराक्षसद्वारेण न कुमारमाश्रयामहे किन्तु कुमारस्य सेनापतिं शिखरसेनं द्वारीकृत्य दुष्टामात्यपरिगृहीताच्चन्द्रगुप्तादपरक्ताः कुमारमाभिगामिकगुणयोगादाश्रयणीयमाश्रयामहे। तन्न मया सुचिरमपि विचारयता तेषां वाक्यार्थोऽधिगतः।[२]

भागुरायण ने इसका जो उत्तर दिया वह तो नाटक में पड़ा है। उसकी चिंता क्यों करें। उलझन में डालनेवाली बात तो यह है कि शिखरस्वामी 'कुमारामात्य' थे। डाक्टर जायसवाल का तो प्रत्यक्ष कहना है कि यही शिखरस्वामी 'कामंदकीय नीति' के भी कर्ता हैं। उनकी धारणा है कि जैसे 'मुद्राराक्षस' के 'भरतवाक्य' में विशाखदत्त ने चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की स्तुति की है वैसे ही शिखरस्वामी ने अपनी 'कामंदकीय नीति' में। विशाखदत्त ने पूरा 'चंद्रगुप्त' नाम नाटक के विचार से रख दिया है तो स्नेह की दृष्टि से शिखरस्वामी ने उसका प्रिय नाम 'देव' ही रखा है। लीजिए वह मंगलाचरण यह है—

यस्य प्रभावाद्भुवनं शाश्वते पथि तिष्ठति।
देवः स जयति श्रीमान् दण्डधरो महीपतिः॥[३]

१—देखिए गिब्बन कृत डेक्लाइन एंड फाल ऑव् दि रोमन इंपायर, अध्याय १९।

२—मित्र भागुरायण, यहाँ आनेवाले भद्रभट आदि ने मुझसे कहा है कि हम अमात्य राक्षस को मध्यस्थ बनाकर आपके पास नहीं आए हैं, किंतु कुमार के सेनापति शिखरसेन को बीच में कर, दुष्ट मंत्री के फंदे में पड़े चंद्रगुप्त से ऊबकर आश्रयणीय कुमार का आश्रय ले रहे हैं। बहुत विचार करने पर भी उनकी इस उक्ति का तात्पर्य मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। (मुद्राराक्षस, अंक ४, श्लोक ७ के उपरांत)

३—जिनके प्रभाव से संसार सनातन मार्ग पर आरूढ़ है वे श्रीमान् दंडधर देव विजयी हों।

परंतु इससे भी विलक्षण बात यह है कि इस नीतिग्रंथ में शिखरस्वामी ने स्फुट कहा है—

सुनियतमुपहन्यात् कूटयुद्धेन शत्रून् ।
न हि तिरयति धर्मं छद्मना शत्रुघातः ॥[1]

इधर शिखरस्वामी यह आदेश देते हैं उधर शिखरसेन मलयकेतु के सेनापति बनते और उसकी मंडली में मगध के लोगों को भरती करते हैं और अंत में उसकी आज्ञा से. पंच म्लेच्छ नरपतियों का वध कर. डालते हैं। अब इस शिखरसेन के लिये यह कहना कि इन्होंने 'ध्रुवदेवी' को 'शकाधिपति' को दे देने की यों ही अनुमति दी, ठीक नहीं। हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि विद्वानों ने 'देवीचंद्रगुप्त' को समझने में उतावली की है और डाक्टर जायसवाल को भी 'शिखर' की सच्ची पकड़ नहीं मिली है। हमारी पक्की धारणा है कि इस शिखरस्वामी ने कूट से पूरा काम लिया और यह सदा चंद्रगुप्त का साथी रहा। पर इस चाणक्य की नीति को समझने के लिये विशाखदत्त को समझना अनिवार्य है। यह ठीक है कि विशाखदत्त की सभी कृतियाँ सामने नहीं आई, पर जो प्राप्त हैं उन्हीं की कितनी मीमांसा हुई है। हमारी दृष्टि में 'देवीचंद्रगुप्त' के जितने अवतरण अब तक मिले हैं वे ही रामगुप्त के विषय में बहुत कुछ कह जाते हैं। प्रमाण के लिये उसका वह अंश लीजिए जिसके विषय में कहा गया है—

भिन्नस्य प्रस्तुतादन्यस्य त्रिगतमनेकार्थगतम् त्रिशब्दस्यानेकार्थत्वात्तेन द्व्यर्थमपि। यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाश्वासनाय शकस्य ध्रुवदेवीसम्प्रदानेऽभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेन अरिवधनार्थं यियासुः प्रतिपन्नध्रुवदेवीनेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते।[2]

'नाट्यदर्पण' में जो कुछ बताने के लिए यह भूमिका बाँधी गई है वह आगे है। यहाँ रामचंद्र और गुणचंद्र का कथन ही खटाई में पड़ा हुआ है। 'प्रकृतीनामाश्वासनाय' के संकेत पर विवाद खड़ा हो गया है। एक इसका अर्थ 'प्रजा' करता है तो दूसरा 'मंत्री' फिर भी इसका रहस्य नहीं खुलता। हमारे विचार में इसका अर्थ यह आता है कि वस्तुतः रामगुप्त चाहता है कि चंद्रगुप्त चला जाय पर उसके हृदय में यह आशंका बनी है कि वही प्रजा उसके इस कार्य से असंतुष्ट न हो जाय। कारण यह है कि चंद्रगुप्त को ही राज्य मिला था और वही जनता का प्रिय 'देव' भी था। अब यदि वह इसी

१—शत्रुओं का नाश निश्चय ही कूटयुद्ध से करे। कपट से शत्रु की हत्या करने से धर्म का नाश नहीं होता। (२५, ७९)

२—भिन्न अर्थात् प्रस्तुत से दूसरे का, त्रिगत या अनेकार्थगत, त्रि शब्द से तात्पर्य है अनेक, इसीलिये यहाँ 'दो अर्थवाला' भी अर्थ हो सकता है। जैसे 'देवीचंद्रगुप्त' के दूसरे अंक में राजा रामगुप्त ने प्रकृतियों की शांति के लिये शक को ध्रुवदेवी के समर्पण का अवसर उपस्थित होने पर, शत्रु को मारने के लिये जाने को प्रस्तुत ध्रुवदेवी का वेष धारण किए कुमार चंद्रगुप्त से कहा।

प्रकार के 'साहस' में मारा जाता है तो भी रामगुप्त की बन आती है और यदि विजयी हो जाता है तो भी उसका शत्रु मारा जाता है। दोनों दशाओं में उसका हित होता है—चाहे घर का शत्रु मरे चाहे बाहर का, मरा तो शत्रु ही न ? किंतु अड़चन यह आ गई है कि अपनी प्रिय पत्नी के लिये भाई को काल के मुँह में भेज रहा है—ऐसे भाई को भेज रहा है जो बाप का दुलारा, लोक की आँखों का तारा और वस्तुतः राज्य का अधिकारी था। उसके निधन के कारण विप्लव होने में क्या आशंका थी ! रामगुप्त जैसे कायर, क्रूर और स्त्रैण शासक को कौन चाहता ? निदान प्रेम-प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ी। उसका विज्ञापन किया गया। इससे चट लाभ तो यह हो गया कि 'प्रकृति' को विश्वास हो गया कि रामगुप्त नहीं चाहता कि चंद्रगुप्त ऐसा साहस करे, यह तो वह अपने आग्रह से कर रहा है और बरबस ध्रुवदेवी के रूप में वहाँ जा रहा है। उधर 'ध्रुवदेवी' देखती है कि राजा ध्रुवदेवी (बने हुए चंद्रगुप्त) को नहीं भेजना चाहते, चाहे किसी दूसरी देवी को भले ही भेज दें। यही 'नाट्यदर्पणकार' का इष्ट है और यही कारण है कि जब ध्रुवदेवी सुनती है कि "देवीं त्यजामि बलवांस्त्वयि मेऽनुरागः"[1] तब स्वतः कुछ बोल उठती है और नाटककार स्वयं विधान करता है "अन्यस्त्रीशंकया ध्रुवदेवी।"[2] 'देवीचंद्रगुप्त' का वह प्रसंग है—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ न खल्वहं त्वां परित्यक्तुमुत्सहे।
प्रत्यग्रयौवनविभूषणमंगमेतत्
रूपश्रियं च तव यौवनयोग्यरूपाम्॥
भक्तिं च मय्यनुपमामनुरुध्यमानो
देवीं त्यजामि बलवांस्त्वयि मेऽनुरागः॥

अन्यस्त्रीशंकया ध्रुवदेवीः--यदि भत्तिं अवेक्खसि तदो ममं व भाइणि परिच्चयसि।[3]

रामगुप्त 'प्रकृति' के आश्वासन के लिये यहाँ तक कह जाते हैं कि

त्यजामि देवीं तृणवत्त्वदन्तरे।
त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम्॥
उढेति देवीं प्रति मे दयालुता।
त्वयि स्थितं भावनिबन्धनं मनः॥[4]

१—देवी को छोड़ दूँ, पर तुम्हारे प्रति मेरा अनुराग दृढ़ है।

२—दूसरी स्त्री की आशंका से ध्रुवदेवी।

३—उठो, उठो। तुम्हें छोड़ने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। यह अंग अभिनव यौवन से विभूषित है। यौवन के अनुरूप तुम्हारी रूपश्री के और मुझमें तुम्हारे अतुलनीय स्नेह के अनुरोध से महारानी को छोड़ दूँ पर तुम्हारे प्रति मेरा दृढ़ अनुराग है।

४—तुम्हारे लिये सम्राज्ञी को तृण की भाँति छोड़ दूँगा क्योंकि तुम्हारे बिना यह राज्य व्यर्थ है। देवी के प्रति मेरी दया की भावना विवाहिता होने के कारण ही है पर भाव से भरा मेरा मन तुममें लगा है।

'उढेति देवीं प्रति मे दयालुता' से अभी तो ध्रुवदेवी यह जानकर प्रसन्न हो जाती है कि वस्तुतः राजा रामगुप्त की रति तो उसी में है। पर करे क्या। तपस्वी विवाहिता होने के कारण अन्य पर भी दयादृष्टि रखता है तथा कुछ और प्रेमप्रलाप सुनने के बाद वह कहती है—'हंजे इयं सा अज्जउत्तस्स करुणायदा'[1] परंतु स्थिति का ठीक ठीक पता होने के अनंतर उसकी यह दशा हो जाती है—

> रम्यां चारतिकारिणीं च करुणाशोकेन नीता दशाम्।
> तत्कालोपगतेन राहुशिरसा ग्रस्तेव चान्द्री कला॥
> पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः।
> लज्जाकोपविषादभीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति॥[2]

अतएव हम देखते हैं कि अपने मन का पाप छिपाने के लिये रामगुप्त ने जो उपाय रचा था वह उसके प्रतिकूल पड़ा। बाहरी शत्रु तो मारा गया पर घर का शत्रु घर में भी हावी हो गया। निदान उसके अंत की चिंता हुई। माधवसेना को शायद यह काम सौंपा गया। वह चंद्रगुप्त को पंजे में लाने लगी। चंद्रगुप्त ने भाँप लिया। वह कहता है—

> प्रिये माधवसेने त्वमिदानीं मे बन्धमाज्ञापय।
> कंठे किन्नरकंठि बाहुलतिकापाशः समासज्यताम्।
> हारस्ते स्तनबांधवो मम बलाद्बध्नातु पाणिद्वयम्॥
> पादौ त्वज्जघनस्थलप्रणयिनी संदानयेन्मेखलाम्।
> पूर्वं त्वद्गुणबद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नार्हति॥[3]

'बंधं पुनर्नार्हति' पर ध्यान देने से अवगत होता है कि इस प्रेमप्रसंग के मूल में कुछ और भी है। ध्वनित तो ऐसा होता है कि जब चंद्रगुप्त विजयी हो गया और घर बाहर चारों ओर उसकी कीर्ति छाने लगी तब रामगुप्त को कुछ दूर की सूझी। उसने माधवसेना को अपना अस्त्र बनाया और उसके द्वारा उदार चंद्रगुप्त का काम तमाम करना चाहा। उधर चंद्रगुप्त ने देखा कि मेरा जीवन संकट में घिर गया है। एक ओर तो ध्रुवदेवी का प्रेम बढ़ता जा रहा है और दूसरी ओर रामगुप्त की घातक नीति रंग

१—यही आर्यपुत्र की वह करुणता है।

२—करुणा तथा शोक से रम्य और अरतिकारिणी अवस्थाको प्राप्त हुई (सम्राज्ञी), उस समय उपस्थित राहुद्वारा ग्रस्त चंद्रकला की भाँति पुरुष होते हुए भी पति के क्लीबजनोचित व्यवहार से, लज्जा, क्रोध, शोक, त्रास और अरति की क्रीडाभूमि बनी वह सम्राज्ञी व्याकुल है।

३—प्रिये माधवसेने, तुम अब मेरे बंधन की आज्ञा दो।

हे किन्नरकंठि, मेरे कंठ में अपनी बाहुलता का पाश डाल दो। तुम्हारा हार मेरे दोनों हाथ बाँध ले। तुम्हारी मेखला मेरे पैर जकड़ ले। किंतु तुम्हारे गुणों से पहले ही बँधा हुआ मेरा हृदय फिर बंधन के अनुपयुक्त है।

बदलती जा रही है। निदान उसने सोच लिया कि पागल का बाना लो और अपनी आत्मरक्षा करो। तनिक सोचने और विचारने की बात है कि चतुर्थ अंक में तो 'माधवसेना' का प्रसंग आता है और पंचम अंक में उसकी उन्मत्तता का। 'देवीचंद्रगुप्त' के पाँचवें अंक में कहा गया है कि उन्मत्त चंद्रगुप्त शत्रु से डरता है। देखिए—

"इयं स्वापायशंकिनः कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य चन्द्रोदयवर्णनेन प्रवेशप्रतिपादिकेति"[1]

और फिर इसी अंक में बताया है कि

"इयमुन्मत्तवेषस्य चन्द्रगुप्तस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनाक्शत्रुभीतस्य राजकुलगमनार्थं निष्क्रमसूचिकेति।"[2]

इसमें तो तनिक भी संदेह नहीं कि यह 'अपाय' की शंका रामगुप्त की ओर से हो रही है और वही चंद्रगुप्त का शत्रु भी है। 'शत्रुभीत' का सीधा अर्थ रामगुप्त ही से है न कि शकाधिपति से। भान तो यही होता है कि इस 'कृतकउन्मत्तता' का 'देवीचंद्रगुप्त' में वही महत्त्व है जो कृतकलह का 'मुद्राराक्षस' में। अजब नहीं कि 'देवीचंद्रगुप्त' की माधवसेना 'मुद्राराक्षस' की विषकन्या निकले जो चंद्रगुप्त की जगह रामगुप्त के प्राण ले और चंद्रगुप्त का मार्ग प्रशस्त बना दे। अभी चंद्रगुप्त का जो रूप सामने आया है उससे यह तो नहीं झलकता कि वह रामगुप्त का वध करने जा रहा है। उसे तो इस समय अपने प्राण और प्रेम की चिंता बावला बना रही है। इस अवसर पर किसी के वध की कहाँ सूझती है। जो हो, हम इस प्रसंग को यहीं छोड़, अब कुछ शकाधिपति की चिंता करना चाहते हैं और यह प्रत्यक्ष दिखा देना चाहते हैं कि 'मुद्राराक्षस' से उसका कितना लगाव है।

धारा के प्रसिद्ध विद्याव्यसनी राजा भोज ने अपने 'शृंगाररूपक' ग्रंथ में 'देवीचंद्रगुप्त' से कुछ अवतरण दिए हैं, जिनका प्रकाशन श्री सरस्वती ने अपने एक लेख में किया है। उसका एक विचारणीय अंश है—

स्त्रीवेषनिह्नुतश्चन्द्रगुप्तः शत्रोः स्कन्धावारमलिपुरं शकपतिवधायागमत्।[3]

उधर विख्यात बाणभट्ट का कथन है—

अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।[4]

इस पर शंकराचार्य की टीका है—

१—अपने विनाश की आशंका करनेवाले कृत्रिम उन्मत्त कुमार चंद्रगुप्त की चंद्रोदय वर्णन से यह 'प्रवेशप्रतिपादिका' है।

२—यह राजकुल में जाने के लिये कामविकार को छिपाने में तत्पर, शत्रु से कुछ डरे हुए, उन्मत्त चंद्रगुप्त की 'निष्क्रमसूचिका' है।

३—स्त्रीवेषधारी चंद्रगुप्त शकपति को मारने के लिये शत्रु के शिविर अलिपुर में गए थे।—इंडियन एंटिक्वेरी, जुलाई सन् १९२३ ई०, पृष्ठ १८२–८३।

४—पुअरिर में परस्त्री-कामुक कशपति को स्त्रीवेषधारी चंद्रगुप्त ने मारा।

शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजन-परिवृतेन रहसि व्यापादितः।[1]

शंकराचार्य ने 'स्त्रीवेषजनपरिवृतेन रहसि व्यापादितः' से स्थिति को तो स्पष्ट कर दिया है पर स्थान का पता नहीं दिया है। यह काम किसी अन्य कवि के द्वारा हो गया है। वह कहता है—

दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं,
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः॥
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः॥[2]

'श्रीशर्मगुप्त' और 'खसाधिपति' को तो विद्वानों ने भ्रष्टपाठ मान लिया है और एक मत से 'श्रीरामगुप्त' और 'शकाधिपति' को ठीक ठहराया है पर 'कार्त्तिकेय' के अर्थ के विषय में कुछ विवाद है। डाक्टर श्री अनंत सदाशिव अल्तेकर उसका अर्थ कुमारगुप्त समझते हैं, तो डाक्टर जायसवाल उसे नगर के साथ जोड़ देते हैं किंतु उसका अर्थ नहीं बताते। हमारी दृष्टि में इस कार्त्तिकेय का संकेत है श्रीकंद अथवा श्रीस्कंद। यदि मनोयोग के साथ देखा जाय तो इसमें उक्त स्थान का स्पष्ट निर्देश किया गया है। कार्त्तिकेय का संकेत है श्रीकंदधार, तो 'नगरस्त्री' का अभिप्राय है कालिदास की उत्सवसंकेतिनी'[3]। यदि यह ठीक है तो उस स्थान का सहज में ही पता लग जाता है जहाँ पर शकाधिपति का वध हुआ था।

श्रीकंदधार के संबंध में श्री जयचंद्र विद्यालंकार का कहना है—

> कुल्लू की पूरब पीठ से कनौर की तरफ फिरते समय हिमालय की गर्भशृंखला ने श्रीकंदधार नाम की अपनी एक बाँहीं आगे बढ़ा दी है, जो व्यास और सतलज के पानियों को बाँटती अर्थात् कुल्लू को कनौर से अलग करती है।[4]

श्री जयचंद्रजी ने 'कनौर' को 'किन्नर' तो मान लिया है पर कहीं श्रीकंद का पता नहीं दिया कि वस्तुतः वह क्या है। क्या उसे श्रीस्कंद का रूप मानने में कोई आपत्ति

१—शकों के आचार्य शकाधिपति को, जो चंद्रगुप्त के भाई की पत्नी को प्राप्त करना चाहते थे, ध्रुवदेवी का वेश धारण किए हुए तथा अन्य स्त्रीवेषधारी व्यक्तियों सहित चंद्रगुप्त ने एकांत में मारा।

२—जहाँ से राजा श्रीशर्मगुप्त रुद्धगति हो तथा साहस को त्याग देवी ध्रुवस्वमिनी को (शत्रु को) देकर लौटे थे उसी हिमालय में जिसके गुरुगुहाकोण में किन्नरों की वाणी गूँज रही है कार्त्तिकेय नगर की स्त्रियाँ तुम्हारी कीर्ति-कथा का गान करती हैं। —राजशेखरकृत काव्य-मीमांसा, गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज संख्या १, पृष्ठ ४७।

३—रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ७८।

४—भारत भूमि और उसके निवासी, परिवर्द्धित संस्करण, रत्नाश्रम आगरा, सं० १९८७ वि०, पृष्ठ १४८।

है ? भोज के दिए हुए अवतरण में जो 'स्कंदधार' शब्द आया है वह भले ही श्रीस्कंदधार न हो पर इसमें तो संदेह नहीं कि शकाधिपति का वध यहीं कहीं हुआ था। 'गुरुगुहाकोण' का 'कोण' कहीं इसी बढ़ी हुई बाहीं की ओर भी तो संकेत नहीं करता ? एक बात और। 'रघुवंश' में भी इस देश का वर्णन कुछ इसी ढंग से आया है। देखिए—

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत्।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥
शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान्।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥[1]

जो हो, उक्त पद्य के 'किन्नर' और 'नगरस्त्री' का मेल तो इसी 'किन्नर' और इसी 'उत्सवसंकेत' से खाता है और सच पूछिए तो यह 'पर्वतीय' भी 'मुद्राराक्षस' के 'पर्वतक' का प्रदेश है। डाक्टर जायसवाल ने भी एक प्रकार से इसी मत का प्रतिपादन किया है। उन्होंने जालंधर के 'अलिवाल' अथवा काँगड़ा के 'अलिपुर' को प्रमाण माना है।[2]

अब तक 'देवीचंद्रगुप्त' एवं रामगुप्त के संबंध में जो कुछ कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि हम 'मुद्राराक्षस' के मर्म को भेद सकें। 'मुद्राराक्षस' में जो बार बार 'देव' और 'श्रीचंद्र' का प्रयोग हुआ है वह इसी चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का प्रसाद है, कुछ महाराज चंद्रगुप्त मौर्य का प्रिय नाम नहीं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि चंद्रगुप्त मौर्य का पूरा नाम ही चंद्रगुप्त था। कुछ केवल चंद्र नहीं, और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य का मूल नाम केवल 'चंद्र' ही था, कुछ पूरा चंद्रगुप्त नहीं। गुप्त तो वंशगत उपाधि थी। इसके अतिरिक्त 'देव' भी उसी का नाम था, कुछ चंद्रगुप्त मौर्य का नहीं। परंतु विशाखदत्त ने इन्हें नाटक में इस प्रकार खपा दिया है कि सहसा किसी का ध्यान ही इस ओर नहीं जाता। इसी प्रकार 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त ने 'राजाधिराज' और 'अधिराज' शब्दों का व्यवहार भी कुछ विचार कर ही किया है। 'अधिराज' शब्द का प्रयोग केवल 'पारसीकाधिपति' के लिये हुआ है और 'राजाधिराज' का केवल सम्राट् के लिये। चाणक्य की टूटी फूटी झोपड़ी देखकर कंचुकी कहता है—"अहो राजाधिराज मंत्रिणो विभूतिः", तो 'कृतकलह' में चाणक्य चंद्रगुप्त पर व्यंग्य छोड़ता है—

एतत् कृतं राक्षसेन। मया पुनर्ज्ञातं नन्दमिव भवन्तामुद्धृत्य भवानिव भूतले मलयकेतू राजाधिराजपदमारोपित इति।[3]

१—वहाँ रघु का पहाड़ियों से इतना घोर युद्ध हुआ कि बाणों से फेंके गए पत्थरों की रगड़ से अग्नि उत्पन्न हो गई थी। रघु ने अपने बाणों से उत्सवसंकेतों के साहस का दमन कर किन्नरों से अपनी भुजाओं का जयगान कराया। (सर्ग ४, श्लोक ७७-७८)

२—जर्नल ऑव् बिहार ऐंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १८, सन् १९३२ ई०, पृष्ठ २९।

३—अच्छा तो बस यह किया राक्षस ने। मैंने तो समझा था कि नंद की तरह आपका विनाश कर, मलयकेतु को आपकी तरह पृथ्वीतल पर राजाधिराज के पद पर स्थापित कर दिया। (अंक १, श्लोक २६ के उपरांत)

परंतु उधर राक्षस मलयकेतु को 'राजाधिराज' के पद पर आरोपित करना नहीं चाहता, क्योंकि वह कहता है—

कुमारस्याधिराजशब्देनातिरस्कृते कुमारशब्दे कुतो मे शिरोवेदनायाः सह्यता ।[1]

तो कुमार मलयकेतु वस्तुतः था क्या ? उत्तर उसी 'मुद्राराक्षस' में धरा है—

एतेषु प्रथमभणितास्त्रयो राजानो मलयकेतोर्विषयमिच्छन्त्यपरे हस्तिबलं कोशं च ।[2]

अथवा

अमात्यराक्षसेन विज्ञापितो: देवश्चन्द्रगुप्तः प्रयच्छति मलयकेतवे पित्र्यं विषयम् ।[3]

'विषय' शब्द का सच्चा संकेत ग्रहण करने के लिये आवश्यक है—

स्वकं स्वकं विषयमभिप्रस्थिताः पार्थिवाः ।[4]

अस्तु, 'राजाधिराज','अधिराज' और 'विषयपति' को सामने रखकर विचार करें तो अवगत होगा कि शकाधिपति अथवा पारसीकाधिराज मलयकेतु के विषय अर्थात् पर्वतीय देश में आ गया था और यहीं राजाधिराज अथवा गुप्त-सम्राट् रामगुप्त से उसका सामना हुआ। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पर्वतीय का पड़ोसी कर्तृपुर सीधे गुप्त-साम्राज्य में आ गया था। प्रयाग की प्रशस्ति इसका पुष्ट प्रमाण है कि कर्तृपुर का शासन समुद्रगुप्त के हाथ में था। जान पड़ता है कि विषयपति पर्वतीय ने शकाधिपति का साथ दिया और रामगुप्त सहसा उसके घेरे में आ गए। 'मुद्राराक्षस' में राक्षस का चक्र यहीं से चलता है। तपस्वी 'करभक' पाटलिपुत्र की लंबी दौड़ से ऊब कर कहता है—

योजनशतं समधिकं को नाम गतागतमिह करोति ।
अस्थानगमनगुर्वी प्रभोराज्ञा यदि न भवति ॥[5]

१—जब तक कुमार की इस 'कुमार' उपाधि को अधिराज शब्द हटा नहीं देता तब तक मेरी शिरो-वेदना कैसे सह्य हो सकती है ? (अंक ४, श्लोक १२ के उपरांत)

२—इनमें से पहले बताए गए तीन राजा मलयकेतु के विषय को हस्तगत करना चाहते हैं, शेष दोनों उसके हस्तिबल और कोश को। (अंक ५, श्लोक १० के पूर्व)

३—"अमात्य राक्षस के अनुरोध से देव चंद्रगुप्त मलयकेतु को उनके पिता का विषय देते हैं। (अंक ७, श्लोक १७ के पूर्व)

४—सब राजा अपने अपने विषय की ओर गए। (अंक ६, श्लोक ३ के पूर्व)

५—सौ योजन या इससे भी अधिक की यात्रा कौन करे, यदि अस्थानगमन के कारण महत्त्वपूर्ण प्रभु की आज्ञा न हो ? (अंक ४, श्लोक १)

कहने को तो विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' में पारसीकाधिपति को पारसीधिकाराज बनाया है पर कहीं उन्हें इस 'अधिराज' शब्द की योग्यता नहीं दी गई है। हम देखते हैं कि विषयपति मलयकेतु की अधीनता में वह पारसीकाधिराज चंद्रगुप्त पर आक्रमण करने के लिये आता और शिखरसेन के द्वारा हाथी के पैरों तले रौंद दिया जाता है। विशाखदत्त उसकी कैसी गति बनाते हैं यह प्रत्यक्ष है। इसको और स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं। हाँ, चाहें तो इसे 'शकाधिपति' की करनी का फल समझ लें।

पहली बार मगध पर चढ़ाई करते समय पारसीकाधिराज चंद्रगुप्त के साथ न थे। उस समय तो—

अस्ति तावच्छकयवनकिरातकाम्बोजपारसीकबाह्लीकप्रभृतिभिश्चाणक्यमतिपरिगृहीतैश्चन्द्रगुप्तपर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयोच्चलितसलिलैः समन्तादुपरुद्धं कुसुमपुरम्।[1]

प्रकट है कि उस समय शक, यवन, किरात, कांबोज, पारसीक और बाह्लीक सेना के अंग होकर आए थे, किंतु इस समय का संघटन उससे सर्वथा भिन्न था। इसमें कश्मीर, कुलूत, सिंधु, मलय और पारसीक के शासक योग दे रहे थे और पर्वतेश्वर का पुत्र उनका अगुआ बना हुआ था। इस संघटन में राक्षस का हाथ था, पर मूलतः यह मगध-साम्राज्य के विरोध में उठ खड़ा हुआ था जिसका अंत चाणक्य की नीति अथवा चंद्रगुप्त की शक्ति ने किया। मेहरौली की प्रशस्ति से सिद्ध ही है कि चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने 'सप्तमुखानि' को पार कर सिंधु के बाह्लीकों को परास्त किया। अस्तु 'मुद्राराक्षस' के सभी म्लेच्छ शासकों को 'श्रीचंद्र' अथवा 'देव' का शत्रु समझना ठीक होगा और उन्हें 'मौर्य' की अपेक्षा 'गुप्त' के साथ दिखाना ही विशाखदत्त को इष्ट होगा।

राक्षस ने 'कुसुमपुर' पर सहसा झपटने की जो योजना तैयार की थी वह तो उसके पेट में ही रह गई, किंतु उसकी सेना का संघटन इस प्रकार हुआ—

प्रस्थातव्यं पुरस्तात् खसशबरगणैर्मामनु व्यूढसैन्यै-
र्गान्धारैर्मध्ययाने यवननृपतिभिः संविधेयः प्रयत्नः।
पश्चात् तिष्ठन्तु वीराः शकनरपतयः संभृताश्चैव हूणैः
कौलूताद्यश्च शिष्टः पथि परिवृणुयाद्राजलोकः कुमारम्॥[2]

१—शक, यवन, किरात, कांबोज, पारसीक, बाह्लीक आदि की तथा पर्वतेश्वर की सेनाओं द्वारा प्रलय से उच्छलित जलवाले समुद्रों की भाँति कुसुमपुर भली भाँति घिरा हुआ है। (अंक २, श्लोक १४ के पूर्व)

२—सबसे आगे खस और शबर सेना प्रस्थान करे, फिर मेरे पीछे व्यूह बनाकर गांधार सेना चले, और यवनराज बीच में रहें। हूणों के साथ शक्तिशाली शकराज पीछे चलें, शेष कौलूत आदि नरपति कुमार के चारों ओर रहें। (अंक ५, श्लोक ११)

प्रस्तुत पद्य के शुद्ध पाठ के विषय में विद्वानों में विवाद है। परंतु इतना तो निश्चित ही है कि 'शक', 'यवन' और 'हूण' भी इसमें अवश्य हैं। शक और हूण का आना इतिहास के पंडितों को खटकता है। राक्षस ने कहा था—"उच्यतामस्मद्वचनात् कुमारानुयायिनो राजानः।"[1] इसका वास्तविक और सच्चा संकेत क्या है, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। अंतिम पद में जो 'कौलूताद्यः' का प्रयोग है उसके भीतर तो पहले के पाँच म्लेच्छ राजा अवश्य ही आ जाते हैं जिनमें पारसीकाधिराज भी हैं, पर शेष के बारे में क्या कहा जाय? क्या विशाखदत्त का कुछ विशेष विचार था जिसकी प्रेरणा में उन्होंने ऐसा किया अथवा राक्षस की शक्ति के प्रदर्शन के लिये ही सबको समेट लिया? हमें तो दूसरा पक्ष ही ठीक दिखाई देता है। हम यहाँ इस विवाद में उतरना नहीं चाहते। हमें तो केवल यह बताना है कि 'हूण' शब्द आ जाने से ही 'मुद्राराक्षस' का समय इधर नहीं घसीटा जा सकता। कालिदास ने भी तो हूणों का उल्लेख किया है—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्॥[2]

रही उनके लिये 'वंक्षुतीर' और 'सिंधुतीर' की खींचतान। सो विशाखदत्त के सामने नहीं है; क्योंकि सिंधुतीर के नाथों का वर्णन 'कौलूताद्यः' में समा चुका है। अतएव यदि कालिदास के अनुरोध से मानना हो तो हूणों को वंक्षुप्रांत में ही मानना होगा, सिंधुप्रांत में नहीं। विशाखदत्त ने तो एक प्रकार से हूणों को शकों का सहायक मात्र माना है, उनके संग्राम की कहीं चर्चा नहीं की है। निदान मानना पड़ता है कि 'हूण' शब्द के कारण हम विशाखदत्त को और भी किसी अवंतिवर्मा के समय में नहीं रख सकते। कन्नौज के अवंतिवर्मा के समय में तो भारत में हूणों का सिक्का काफी चल चुका था और वे मुँह की भी खा चुके थे, किंतु 'मुद्राराक्षस' में कहीं उन्हें भारत में जगह नहीं दिखाई देती। महाशय काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग ने तो 'चीणहूणैः' को शुद्ध पाठ माना है। फिर तो हूण अपने मूल देश में पहुँच जायँगे और बेचारे विशाखदत्त कालदोष से भी मुक्त हो जाँयगे। मौर्य-काल में भी तो हूण अपने मूल देश में बसते ही थे? फिर कालदोष कैसा?

कालदोष के प्रकरण में हम तड़ाक से कह सकते हैं कि 'भरतवाक्य' में कभी अवंतिवर्मा का उल्लेख हो ही नहीं सकता। विशाखदत्त जैसे निपुण नाटककार की कौन कहे, यह तो कोई कविबंधु नाटककार भी नहीं कर सकता। कहाँ तो विशाखदत्त का राक्षस कहता है—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयस्तस्य विस्तारमिच्छन्,
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।

१—हमारी आज्ञा से कुमार के अनुयायी राजाओं से कहो।

२—रघु के पराक्रम की अभिव्यक्ति हूणों के प्रति ऐसी हुई कि उनकी (हूणों) पराजय के कारण लज्जावश उनकी स्त्रियों के कपोल रक्तवर्ण हो गए। (रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक ६८)

कुर्वन् बुद्धया विमर्शं प्रभृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥[१]

और कहाँ नाटक समाप्त होते ही परितोष और मंगल के लिये अवंतिवर्मा को वराह-भगवान् के रूप में खड़ा कर देता है जिनका नाटक से कोई दूर का भी संबंध नहीं। भला यह कहाँ की कुशलता है ? विपत्तियों के वितर्क से प्रतीत होता है कि "कुकविकृतनाटकस्येवान्यन्मुखेऽन्यन्निर्वहणे" जैसे अपने सिद्धांत को रूप देने के लिये ही उसने 'भरतवाक्य' की सृष्टि की है और 'मुख' में चंद्रगुप्त को रखकर 'निर्वहण' में अवंतिवर्मा को उगल दिया है। हमारी समझ में तो इस भद्दी भूल को और अधिक आश्रय देना बुद्धि का उपहास करना है। समझ में नहीं आता है कि जब कहीं से कोई सूत्र भी अवंतिवर्मा के पक्ष में नहीं आता तब एक भ्रष्ट पाठ के आधार पर ही विशाखदत्त को क्यों इधर उधर नचाया जाता है ? क्यों अवंतिवर्मा, रंतिवर्मा, दंतिवर्मा और परोक्ष में न जाने का क्या क्या पाठ खड़े किए जाते हैं और तपस्वी विशाखदत्त इधर ठोकरें खाते फिरते हैं ! देखिए न हमारे लिपिकारों ने कवि को कहाँ से कहाँ उछाल दिया और हमारे मीमांसकों ने भी उन्हीं से उनको लोक लिया। कवि भी क्या कोई बवंडर का पात ठहरा, जो हवा के झोंकों के साथ हवा में उड़ता फिरे और स्थिर होने को उसे कहीं ठौर ही न मिले ! भला सोचिए तो सही कि जिस 'सिंहनाद' ने इतिहास में 'वर्धन' और 'वर्मा' की ओर से हूणों से लोहा लिया था उसी का पवित्र नाम नाटक में म्लेच्छों की कोटि में कैसे आ गया ? यदि विशाखदत्त का कन्नौज के अवंतिवर्मा से तनिक भी लगाव होता तो वह इस नाम को तो इस प्रकार म्लेच्छ न बनाता। हमारा तो निश्चित और ठोस मत है कि विशाखदत्त का किसी अवंतिवर्मा से कोई संबंध नहीं है। जिस 'चंद्रग्रहण' के कारण कश्मीर के अवंतिवर्मा विशाखदत्त के अन्नदाता बने उसमें कुछ सार नहीं। फिर भी यहाँ उस पर थोड़ा विचार कर देना हम ठीक समझते हैं।

सो प्रस्तावना से इतना तो व्यक्त ही है कि वास्तव में 'चंद्रग्रहण' था नहीं, किंतु नटी को भ्रमवश चंद्रग्रहण का विश्वास हो गया था। कारण यह था कि लोग कूट-भाषा में चंद्रगुप्त के ग्रहण की चर्चा करते थे और भोली नटी ने उसे चंद्रग्रहण समझ लिया था, बस इसी बात को लेकर किसी निष्कर्ष पर कूद पड़ना कहाँ की बुद्धिमत्ता है कुछ इसका भी तो विचार चाहिए ? क्या सन् ८६० ई० के पहले कभी ऐसा योग पड़ ही नहीं सकता ? फिर उसके लिये हमारे ग्रहणभक्तों ने क्या किया ? हमें तो ऐसा गोचर होता है कि ग्रहण का यह प्रमाण भी हमारे पक्ष में है। कारण यह है कि

१—थोड़े से कार्य का प्रारंभ कर उसका बाद में विस्तार करते हुए, प्रच्छन्न बीजरूप कार्य का बीच में गूढ़ और गहन फल दिखाते हुए, बुद्धि से विचार कर फैले हुए कार्यसमूह को समेट लेने-वाले हमारे जैसे व्यक्ति और नाटककार, ये दोनों ही इस प्रकार के क्लेश का अनुभव करते हैं। (अंक ४, श्लोक ३)

वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ 'बृहद्-संहिता' में इस धारणा का उपहास किया है कि बुध-योग हो जाने से ग्रहण नहीं लगता। यदि यह ठीक है तो विशाखदत्त का समय वराहमिहिर से पहले उस समय होना चाहिए जब यह धारणा सामान्य रूप से प्रचलित रही हो। यह तो निश्चित ही है कि ज्योतिषविद्या की गुप्त-साम्राज्य में जितनी खोज हुई उतनी पहले किसी शासन में नहीं हुई थी। विशाखदत्त गुप्त-साम्राज्य के आदि में थे, अंत में नहीं, अतः वही समय इसके लिये उपयुक्त हो सकता है; कुछ अवंति-वर्मा का नहीं जो वराहमिहिर के बाद में हुआ और जिसका पता इतिहास में भी खोजने से मिलता है।

'मुद्राराक्षस' के समय-निर्धारण में कुछ साहित्य के भीतर से भी सामग्री ली गई है और एक सज्जन ने मंदसोर के उत्कीर्ण लेख की शैली से उसकी तुलना कर उसे उनके बाद का बताया है। किंतु एक दूसरे महोदय ने उन्हीं के प्रमाण के आधार पर उसको उलट दिया है और स्वयं मंदसोर के लेखक को ऋणी ठहराया है। इसी प्रकार अति प्रचलित श्लोक "प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः" के आधार पर कुछ लोगों ने विशाखदत्त को भर्तृहरि के उपरांत बताया था, परंतु दूसरे लोगों ने इसे भी उनके प्रतिकूल ठहरा दिया। इस प्रकार लेन-देन के झगड़े साहित्य में चलते ही रहे, पर अभी तक उससे कुछ निर्णय न हो सका। सो इस जन का ध्यान भी इस ओर 'मालती-माधव' के अध्ययन से ही मुड़ा। इसे विश्वास हो गया कि 'मालतीमाधव' 'मुद्राराक्षस' से भरपूर प्रभावित है और वह 'मृच्छकटिक' को भी नीचा दिखाने के लिये लिखा गया है। 'मालतीमाधव' की 'कामंदकी' को प्रायः लोग 'मालविकाग्निमित्र' की 'पंडित कौशिकी' के साथ देखते हैं पर हमारी दृष्टि में यह उनका भ्रम है। कालिदास और भवभूति दोनों ही 'मृच्छकटिक' और 'मुद्राराक्षस' के सहारे आगे बढ़ रहे हैं, उनमें अंतर केवल इतना है कि कालिदास के सामने यदि दो हैं तो भवभूति के समक्ष तीन अर्थात् कालिदास भी। भवभूति ने 'पंडितकौशिकी' को देखा अवश्य है पर उन्होंने अपनी 'कामंदकी' को जो रूप दिया है वह उससे सर्वथा भिन्न चाणक्य का सहृदय नारी रूप है, जिनकी प्रतिष्ठा इन गुणों के लिये की गई है—

गुणवत्युपायनिलये स्थितिहेतो साधिके त्रिवर्गस्य।
मद्भवननीतिविद्ये कार्यादार्ये द्रुतमुपेहि ॥[1]

बस आप सूत्रधार के इस सूत्र को सामने रखकर कामंदकी का अध्ययन करें और उसे परम सूत्रधार की परम नटी मानकर नाटक के क्षेत्र में उतरें, फिर तो आप स्वयम् देख लेंगे कि हमारा पक्ष क्या है और किस बूते पर भवभूति की कामंदकी 'उपाय-निलये' से 'कार्यविधाने' बन गई है और नाटक में चाणक्य की 'नीतिविद्या' के साथ ही राक्षस का 'हृदय' भी पा गई है। 'मालतीमाधव' का सारा ढाँचा 'सुहृद्स्नेह' पर ही तो

१—देखिए पृष्ठ २।

टिका है ? उसकी 'मालती-माला' भी तो 'मुद्रा' ही का काम कर रही है ? याद रहे 'मालविकाग्निमित्र' की 'नागमुद्रा' भी इसी 'मुद्रा' की छाया है, कुछ 'मृच्छकटिक' के 'आभरण' का आभास नहीं। हाँ, 'मुद्राराक्षस' को 'मृच्छकटिक' का ऋणी मान लेने में कोई आपत्ति नहीं।

समय समय पर हम बराबर दिखाते हैं कि कालिदास किस प्रकार विशाखदत्त को पुष्ट करते हैं। यहाँ एक और उदाहरण दे हम इस प्रकरण को समाप्त कर देना चाहते हैं। 'मुद्राराक्षस' के 'भरतवाक्य' के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। उसके 'बंधुभृत्य' को लेकर स्वर्गीय जायसवाल जी ने चंद्रगुप्त को 'भरत' बना दिया है। हमने देख भी लिया है कि एक स्थल पर विशाखदत्त ने ध्रुवदेवी को 'चंद्रकला' बना दिया है। अब सबका मिलाजुला रूप एकत्र देखिए—

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे॥[1]

डाक्टर जायसवाल की भाँति हमारा यह आग्रह नहीं है कि 'भरतवाक्य' के 'बंधुभृत्य' का अर्थ बंधु का भृत्य ही लिया जाय और उसे 'बंधु' और 'भृत्य' से निरा दूर ही कर दिया जाय पर हमारी इतनी विनती अवश्य है कि कुछ इस पर भी ध्यान दिया जाय और विशाखदत्त के दोनों अर्थों को इष्ट समझा जाय। जब 'मुद्राराक्षस' का 'नांदी वाक्य' नाटक की 'विजया' की ओर भी संकेत कर जाता है और उसी की साखी पर मलयकेतु कुछ से कुछ और ही ठान लेता है तो 'कवि' के शब्दों के कामधेनु होने में संदेह क्यों है ? अस्तु, 'भरतवाक्य' के चंद्रगुप्त 'विष्णु' भी हैं, 'भरत' भी हैं और हैं 'भाईबंधु' की संमति से शासन करनेवाले ईश भी।

'मुद्राराक्षस' का समय तो निर्धारित हो गया। निश्चय ही वह परम भागवत भारत-सम्राट् सिंहपराक्रम चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के युग की रचना है। परंतु विशाखदत्त के विषय में कुछ कह देना अभी शेष रहा। सो विशाखदत्त ने 'मुद्राराक्षस' की प्रस्तावना में अपना जो परिचय दिया है उससे प्रकट है कि उनके पूर्व-पुरुष भी गुप्तवंश की भाँति ही बढ़े थे। पितामह वटेश्वरदत्त 'सामंत' थे, तो पिता भास्करदत्त (पृथु) 'महाराज'। किंतु स्वयं विशाखदत्त क्या थे, इसका पता नहीं। हाँ, 'मुद्राराक्षस' में अपने आपको केवल 'कवि' कहते हैं। प्रतीत होता है कि कविकर्म ही उनका प्रधान कार्य था और इसी के प्रदर्शन के लिये उनको राजाश्रय मिला भी था। महाराज की संतान होने, राजाश्रय पाने एवं राजसंसर्ग में रहने के कारण उनमें नीतिनिपुणता भी पूरी आ गई थी। 'मुद्राराक्षस' के समय तक उनकी इतनी ख्याति हो चुकी थी कि उनको प्रस्तावना

१—वहाँ भरत ने धैर्यशालिनी सीता को नमस्कार किया जिनका राम ने रावण के क्लेश से इस प्रकार उद्धार किया था जैसे ईश्वर संसार के प्रलय से पृथ्वी का और शरद् ऋतु बादलों से चंद्र की कांति का उद्धार करती है। (रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ७७)।

में अपने लिये कुछ विशेष न कहना पड़ा, केवल 'कवि' कह देने से काम चल गया। इसका प्रधान कारण यह था कि 'काव्यविशेषवेदिनी परिषद्' के सामने उनका नाटक खेला जा रहा था और उन्हें पूरा विश्वास था कि पात्र को पाकर उसकी शोभा और भी बढ़ जायगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह काव्यपारखी परिषद् सम्राट् चंद्रगुप्त की परिषद् थी जिसकी गुणग्राहकता की कथा आज भी घर घर प्रचलित है और जिसके विषय में स्वयम् कालिदास का उल्लास है—

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥[1]

भला कालिदास जैसे पारखी कवि को इतने से ही संतोष कब हो सकता था। उन्होंने उसे इंदुमती की श्रद्धा का पात्र बना कर ही छोड़ा। इंदुमती चुन तो सकती नहीं, पर प्रणाम कर हृदय का भार उतार सकती है। पूज्य पर श्रद्धांजलि चढ़ा सकती है। मन की आँख से देखिए तो सही—

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा॥[2]

कालिदास ने तो इस 'ऋजुप्रणामक्रिया' में सब कुछ बता दिया है, पर इसे खोल दिखाए कौन! लोग तो यहाँ कुछ और ही देखने में मग्न हैं। किंतु, सच पूछिए तो इंदुमती का स्वयंवर कालिदास के काल-निर्णय का सर्वप्रधान साधन है। यह उसी की एक झलक है। यह 'ऋजु-प्रणाम' ब्राह्मण का अभिवादन नहीं श्रद्धा का प्रदर्शन है, सम्राट् का अभिनंदन और सत्कार है। महाकुलीन की चर्चा तो पांड्य के प्रसंग में आती है, यहाँ 'लब्धवर्ण' का अर्थ कुछ और ही है।

आज तक हम कालिदास के विनय और भवभूति के दर्प की चर्चा ही करते रह गए, पर कभी फूटी आँख से भी न देखा कि भवभूति को ऐसी परिषद् कब मिली। उस तपस्वी के नाटक तो 'महाकाल' के प्रसाद से प्रयोग में आते रहे फिर वह 'कालप्रिय' न होता तो और क्या करता! अच्छा हुआ 'एक दिन' की मधुर कल्पना कर कुछ कर तो गया, नहीं तो समय ने तो उसे ठुकरा ही दिया था। उसे छोड़िए, 'वेणीसंहार' ही को ले लीजिए। सूत्रधार को जिस समाज का सामना करना है वह कैसा काव्यप्रेमी है इसका अनुमान आप स्वयं कर सकते हैं। उसकी प्रार्थना है—

१—भले ही सहस्रों अन्य राजा हों, पर पृथ्वी इन्हीं के कारण राजन्वती कहलाती है। रात्रि के नक्षत्र-तारा-ग्रह से युक्त रहने पर भी उसमें प्रकाश (ज्योत्स्ना) चंद्रमा का ही होता है।
(रघुवंश, सर्ग ६; श्लोक २२)

२—इस प्रकार सुनंदा के कहने पर उस राजा को देख इंदुमती के हाथ की दूर्वायुक्त महुए की माला थोड़ी सरक गई और उसने बिना कुछ कहे सुने सीधे से प्रणाम कर उसे अस्वीकार कर दिया। (वही, श्लोक २५)

तदिदं कवेर्मृगराजलक्ष्णो भट्टनारायणस्य कृतिं वेणीसंहारं नाम नाटकं प्रयोक्तुमुद्यता वयम्। तदत्र कविपरिश्रमानुरोधाद्वा उदात्तकथावस्तुगौरवाद्वा नवनाटकदर्शनकुतूहलाद्वा भवद्भिरवधानं दीयमानमभ्यर्थये।[1]

इस विषय को और भी स्पष्ट करने के लिये राजाधिराज काव्यविनोदी सम्राट् हर्ष को लीजिए। उनका सूत्रधार बँधे वँधाए पदों में बराबर कहता है—

अद्याहं वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मजीविना राजसमूहेनोक्तः। यथा 'अस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनालंकृता रत्नावली नाम नाटिका कृतेत्यस्माभिः श्रोतृपरम्परया श्रुता। न तु प्रयोगतो दृष्टा। तत्तस्यैव राज्ञः सकलजनहृदयाह्लादिनो बहुमानादस्मासु चानुग्रहबुद्ध्या यथावत्प्रयोगेण त्वया नाटयितव्या' इति। तद्यावदिदानीं नेपथ्यरचनां कृत्वा यथाभिलषितं सम्पादयामि। अये! आवर्जितानि च मया सकलसामाजिकानां मनांसीति मे निश्चयः। यतः[2]

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः॥

तद्यावद्गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय संगीतकमनुतिष्ठामि।

तात्पर्य यह है कि सम्राट् हर्ष को भी इतने लंबे-चौड़े विज्ञापन की आवश्यकता पड़ी। अब आप स्वयं विचार सकते हैं कि क्या 'मुद्राराक्षस' की 'प्रस्तावना' इन युगों की प्रस्तावनाओं के साथ तुल जाती है। सच बात तो यह है कि केवल 'प्रस्तावना' की पकड़ से ही यह सिद्ध हो जाता है कि 'मुद्राराक्षस' किस युग की वाणी है और स्वयं विशाखदत्त किस कँडे का कवि है। उसे शूद्रक और कालिदास से कभी दूर नहीं फेंक सकते, लिखने को चाहे जितना तर्क करते रहें।

१—हम वेणीसंहार नाटक के अभिनय के लिये प्रस्तुत हैं जो सिंह लक्ष्मवाले भट्टनारायण की कृति है। कवि के परिश्रम का ध्यान कर अथवा उत्तम कथानक के कारण अथवा नवीन नाटक के दर्शन की उत्सुकता से इसे ध्यानपूर्वक देखें, यह प्रार्थना है।

२—अनेक दिशाओं तथा देशों से आए हुए, राजा श्री हर्षदेव के चरण—कमलों के सेवक भूपालों ने मुझे सादर बुलाकर कहा—'हमारे अधिपति श्री हर्षदेव ने अपूर्व कथावस्तु और रचना-सौष्ठव से मनोहर रत्नावली नाटिका लिखी है, यह हमने सुना तो है पर उसका अभिनय नहीं देखा। इसलिये समग्र व्यक्तियों के हृदयानंददायक राजा के प्रति आदर भाव से हमारे ऊपर अनुग्रह कर इस नाटिका का अभिनय तुम्हें करना चाहिए।' अब मैं वेष-भूषा इत्यादि का प्रबंध कर अभिलषित कार्य करूँ। इसका तो मुझे निश्चय है कि मैंने सब दर्शकों का मन इस ओर आकृष्ट कर लिया है। क्योंकि—

भास और शूद्रक का विवाद हमारी सीमा से बाहर की बात है, इसलिये हम उसमें पड़ना नहीं चाहते। हाँ, इतना निवेदन कर देना चाहते हैं कि विशाखदत्त उनसे प्रभावित अवश्य हैं। अब तक विशाखदत्त के तीन नाटकों का पता चला है जिनमें 'मुद्राराक्षस' तो पूर्ण और प्रकाशित है. परंतु शेष दो के कुछ अवतरण ही उपलब्ध हैं। उनमें से भी 'देवीचंद्रगुप्त' की चर्चा पहले आ चुकी है। अब यहाँ केवल 'अभिसारिका-वंचित' अथवा 'अभिसारिकावंचितक' का उल्लेख कर देना और अनुमानतः यह बता देना है कि उपलब्ध नाटकों में संभवतः वही प्रथम रचना है और 'मुद्राराक्षस' ही अंतिम। डाक्टर जायसवाल 'देवीचंद्रगुप्त' को 'मुद्राराक्षस' से बाद क्या कुमारगुप्त के समय की रचना समझते हैं, किंतु 'माधवसेना' के प्रसंग के कारण ही। परंतु जैसा कि कहा जा चुका है उसका रहस्य कुछ और ही लक्षित होता है और पुत्र के सामने पिता के वेश्या-प्रेम का प्रदर्शन करना तो और भी भद्दा है। निदान हम उसे 'मुद्राराक्षस' से पूर्व की कृति मानते हैं। उसके जो अवतरण प्राप्त हैं उनके आधार पर तो उसे 'मुद्राराक्षस' से बाद की रचना नहीं कह सकते। रही 'अभिसारिकावंचित' की बात। उसका उल्लेख अभिनवगुप्त और भोज ने विशाखदेव के नाम से किया है। अभिनवगुप्त का कथन है—

> कदाचित्कामोऽनुत्पद्यमानः अङ्गलीलालक्षणात् विचेष्टितात् उपजायते। नष्टरागप्रत्यानयनं वा ततो भवति। यथा विशाखदेवकृते अभिसारिकावंचितके वत्सेशस्य पद्मावती भट्टशबरीवेषाद्याचरणरूपात् लीलाचेष्टितात् कामः प्रत्याख्यातः (प्रत्यानीतः ?)।[1]

अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' से भोज का 'शृंगारप्रकाश' कुछ आगे बढ़ा हुआ है। उसमें उक्त ग्रंथ का एक अवतरण भी आ गया है—

> क्रोधो, यथा—श्रीविशाखदेवकृते अभिसारिकावंचितके वत्सराजः सम्भावितपुत्रवधायै पद्मावत्यै क्रुद्धः। तथा च अभ्यधात्।[2]

श्रीहर्ष एक कुशल कवि हैं, सभा भी गुणग्राहिणी है। वत्सराज उदयन का चरित्र चित्ताकर्षक है ही और हम भी अभिनय में कुशल हैं। इनमें से किसी एक वस्तु से ही वांछित फल मिल सकता है। फिर तब तो कहना ही क्या जब मेरे भाग्य से इन गुणों का समूह एक साथ ही उपस्थित हो गया। घर जाकर पत्नी को बुला संगीत का आयोजन करूँ।

१—यदि पहले काम उद्दीप्त न हुआ हो तो अंगलीला आदि व्यवहारों से हो जाता है नष्ट-प्रेम का नवीकरण भी इससे होता है। जैसे विशाखदेवरचित 'अभिसारिकाबन्धितक' में पद्मावती के भट्ट, शबरी के वेष आदि आचरण रूप लीलाचेष्टित से वत्सराजका काम प्रत्याख्यात हुआ (या उसका प्रत्यानयन हुआ)।

२—क्रोध का उदाहरण—विशाखदेवलिखित 'अभिसारिकावंचितक' में वत्सराज पुत्र का संभावित बध करनेवाली पद्मावती पर क्रुद्ध हुए और कहा—श्रम (भ्रम ?) के कारण अति दुष्ट और उग्र ग्राहों से संकीर्ण नदी में मानो स्नान किया। फल और कुसुम के लोभ से विषवृक्ष की शाखा

प्रदुष्टोग्रग्राहां सरितमगगाढः श्रमवशा-
दुपालीनश्शाखां फलकुसुमलोभाद्विषतरोः ।
फणाली···नार्मीत्युत परिचयां क्रौर्यनितरां
विषज्वालागर्भा· चिरमुरगकन्यामनुसृतः ॥"

अस्तु कथावस्तु की कसौटी पर कसने से व्यक्त हो जाता है कि 'अभिसारिका-वंचितक' आरंभ की रचना है, क्योंकि प्रायः यह देखने में आता है कि कवि मानव की भाँति पहले किसी का सहारा लेकर उठता है और फिर पदों में बल आ जाने पर स्वतंत्र रचना की सोचता है। 'अभिसारिका' की कथा प्रसिद्ध वत्सराज उदयन और पद्मावती की कथा है जो, भाँति भाँति से लोक में प्रसिद्ध रही है। विशाखदेव ने उसको किस रूप में ग्रहण किया और उस पर कल्पना का कितना रंग दौड़ाया यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। तो भी इतना कहने में कोई संदेह नहीं रह जाता कि इसमें पद्मावती ने ही अभिसारिका शबरी के रूप में वत्सराज उदयन को छला और फिर उनके प्रसाद से उनकी प्रिया बनी। संभवतः उसी पर पुत्रहत्या का कलंक लगा था जिससे राजा का मन उससे फिर गया था। अतः समीचीन यही है कि इसी को विशाखदत्त की पहली रचना मान लें और फिर इसके उपरांत 'देवीचंद्रगुप्त' को स्थान दें। 'मुद्राराक्षस' को अंतिम नाटक मान लेने में कोई क्षति नहीं दिखाई देती। जब ग्रंथों की यह दशा है तब फुटकर रचनाओं की कौन कहे? सुभाषित के रूप में जो कुछ सुरक्षित हैं वे ही बहुत हैं। उनके काल का प्रश्न उठाना व्यर्थ पानी पीटना है।

विशाखदत्त के समय का निश्चय हो चुका। निदान उन्हें चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के समय का ही कवि समझना चाहिए। अस्तु, उनके काव्यजीवन का आरंभ समुद्रगुप्त के सत्संग में हुआ हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। जो हो, यहाँ इतना और निवेदन कर देना है कि उनका निवास-स्थान संभवतः भोजपुर प्रांत में था। 'मुद्राराक्षस' में एक स्थल पर कहा गया है—

वयस्य देवनद्या इवाज्ञातगत्यै नम आर्यचाणक्यनीत्यै।[१]

पर पहले तो 'देवनद्या' पाठ में लोगों को संदेह है दूसरे उसका अर्थ त्रिपथगा (आकाश, पाताल और मर्त्यलोक) के रूप में भी अज्ञातगति कहा जा सकता है किंतु यदि इस बात का ध्यान रखा जाय कि घाघरा के आ मिलने से देवनदी गंगा की गति भी अज्ञात सी हो जाया करती है और पता नहीं चलता कि उसकी मूलधारा कब और

का मानों आश्रय लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि मैंने, दीर्घ काल तक फणाली······क्रौर्य से परिचित विष से पूर्ण नागकन्या का अनुसरण किया है।

१—हे मित्र, देवनदी की तरह अचिंत्यगतिवाली आर्य चाणक्य की नीति को नमस्कार है। (अंक ६, श्लोक ३ के पूर्व)

किधर बढ़ेगी जैसा कहा भी जाता है—'हाकिम के मन अउरी गंगा के धार केहू ना जानेलां', तो उसका रहस्य भी खुल जाता है और इस प्रकार कवि के स्थान का भी कुछ संकेत उसकी रचना से निकल आता है। विचारने की बात यह भी है कि घाघरा का एक ठेठ नाम 'देवहा' भी है जो 'देववहा' का ही अपभ्रष्ट रूप दिखाई देता है। यदि यह ठीक है तो इस देवनदी का संकेत घाघरा के लिये भी हो सकता है, जिसके उपद्रव के विषय में कुछ कहना ही व्यर्थ है।

उधर 'मुद्राराक्षस' के सूत्रधार को अपने घर में जो उत्सव दिखाई देता है वह यह है—

वहति जलमियं पिनष्टि गन्धानियमियमुद्ग्रथते स्रजो विचित्राः।
मुसलमिदमियं च पातकाले मुहुरनुयाति कलेन हुंकृतेन॥[1]

यह तो बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि यह भास के 'चारुदत्त' अथवा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' से प्रभावित है, परंतु इससे आगे कुछ और भी कह बैठना तुलना की तुला को डावाँडोल करना होगा। हाँ, कुछ लोग इस 'मुसल' की 'हुंकार' को कोई महत्त्व न देंगे और उसे किसी ग्रामीण कवि की रुचि भर समझ लेंगे, पर बात वस्तुतः ऐसी है नहीं। वह किसी 'पाकविशेष' की पुकार है। 'मृच्छकटिक' के सूत्रधार को भोजन की चिंता है तो उसे 'ओदन' ही ओदन दिखाई देता है, किंतु वहाँ कहीं 'मुसल की हुंकार' नहीं है। वहाँ तो—

आयामितण्डुलोदकप्रवाहा रथ्या। लोहकटाहपरिवर्तनकृष्णशारा कृतविशेषकेव युवतिरधिकतरं शोभते भूमिः। स्निग्धेन गन्धेन उद्दीप्यमानेवाधिकं बाधते मां बुभुक्षा। तत् किं पूर्वविहितं निधानं उत्पन्नं भवेत्। अथवा अहमेव बुभुक्षात् ओदनमयं जीवलोकं प्रेक्षे। नास्ति किल प्रातराशोऽस्माकं गेहे। प्राणात्ययं बाधते मां बुभुक्षा। इह सर्वं नवमिव संविधानकं वर्तते। एका वर्णकं पिनष्टि। अपरा सुमनसो गुम्फयति।[2]

सोचिए तो सही, यह मुसलपात क्यों हो रहा है। यदि 'ओदन' ही इष्ट होता तो उसके लिये 'मृच्छकटिक' का मार्ग खुला ही था, फिर ऐसी भूमिका क्यों बाँधी गई? उत्तर उसी 'पाकविशेष' में छिपा है। बात यह है कि ग्रहण का पाकविशेष पका नहीं

१—देखिए पृष्ठ २।

२—चावल का जल फैल रहा है। लोहे की कड़ाही की रगड़ से काली भूमि तिलक लगाए युवती की तरह शोभित है। स्निग्ध गंध से प्रदीप्त क्षुधा मुझे अधिक व्याकुल कर रही है। क्या पहले का निधान मिला है या भूख के कारण मैं ही संसार को अन्नमय देख रहा हूँ। मेरे घर में कलेवा भी नहीं है। भूख मेरे प्राण लिए ले रही है। यहाँ का संविधान सब नया सा है। एक रंग पीस रही है, तो दूसरी माला गूँथ रही है। (प्रस्तावना)

होता, वह अपक ही रहता है। फिर यह मुसल की हुंकार कैसी ? हमें तो ऐसा भान होता है कि यह 'चिउरा' की तैयारी हो रही है। 'चिउराकुटाई' का कितना बढ़िया वर्णन है ! सरवार के ब्राह्मणों को यह बहुत प्रिय है। बाबा तुलसीदास ने भी 'राम-चरित-मानस' में इसका उल्लेख किया है—

मंगल सगुन सुगंध सुहाए। बहुत भाँति महिपाल पठाए।
दधि चिउरा उपहार अपारा। भरि भरि काँवरि चले कहारा॥

यहाँ पर गाँठ में रखने की बात यह है कि मिथिला में कोशल के सत्कार के लिये यह उपहार आ रहा है। अब आप विशाखदत्त को साकेत का मानें अथवा कुसुमपुर का इसमें हमारा कोई आग्रह नहीं। पर हमें तो यहाँ भी मध्य का स्थान ही विशेष सुहाता है। इसी से हम उन्हें भोजपुर (भृगु) क्षेत्र का मानते हैं जहा की लाठी आज भी अपना गुण दिखाती है। कहिए न, ऐसा नाटक कोई दूसरा है।

श्रीनगर और देवगिरि के यादव

[श्री विशुद्धानंद पाठक एम० ए०]

यादवों का दक्षिणी भारत के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कल्याण के चालुक्य-वंश की श्री हत हो जाने के उपरांत यादवों ने देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद) को अपनी राजधानी बनाकर भारत के उस सुविस्तृत भूखंड पर समृद्धिशाली एवं शक्ति संपन्न प्रभुसत्तात्मक विशाल साम्राज्य स्थापित किया।[1] उक्त देवगिरि का निर्माता यादव सम्राट् पंचम भिल्लम था।[2] बाईस पीढ़ियों तक उसके पूर्वजों की राजधानी श्रीनगर थी।[3] देवगिरि की स्थापना के पूर्व तक तो यादव राष्ट्रकूटों और चालुक्यों के सामंत माने जाते रहे, किंतु इसकी स्थापना हो जाने पर उनके स्वतंत्र प्रभुसत्तात्मक साम्राज्य का आरंभ हुआ।[4] हेमाद्रि के कथनानुसार श्रीनगर के प्रथम यादव नृपति दृढ़-प्रहार बताए जाते हैं।[5] उनके पुत्र प्रथम सेउणचंद्र के नाम पर उनके देश का नाम सेउण देश पड़ा।[6] उसने सिंदिनेर प्रांत में सेउणपुर की स्थापना की थी।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम सेउणचंद्र ने प्रांत के प्रमुख नगर सिंदिनेर को ही सेउणपुर की संज्ञा से विभूषित किया। यहाँ सिंदिनेर और श्रीनगर की ध्वन्यात्मक एकता से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दोनों वस्तुतः एक ही नगर के दो नाम थे और प्रथम सेउणचंद्र ने अपनी कीर्ति चिरस्थायी करने के लिये श्रीनगर का नामकरण 'सेउणपुर' कर दिया था। सेउणपुर को डाक्टर भगवानलाल इंद्र ने नासिक से बीस मील दक्षिण एक ताल्लुके के मुख्य नगर आधुनिक सिन्नार से मिलाया है।[8]

महानुभाव ग्रंथ 'लीलाचरित' से भी ज्ञात होता है कि प्राचीन यादव राजधानी श्रीनगर ही आधुनिक सिन्नार है।[9] प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता हेनरी कजेंस का कथन है[10]

१—डाक्टर रामकृष्ण भांडारकर कृत अर्ली हिस्ट्री ऑव् दि डेकन, सन् १९२८ ई०।

२—वही।

३—वही।

४—वही।

५—वही। चतुर्वर्ग-चिंतामणि के व्रत-खंड की भूमिका, श्लोक २२।

६—वही। डाक्टर भांडारकर ने सेउण देश को आधुनिक खानदेश (बंबई प्रांत में) से मिलाया है। देखिए अर्ली हिस्ट्री ऑव् दि डेक्कन, पृष्ठ ९६२, तृतीय संस्करण।

७—इंडियन एंटिक्वेरी, भाग १२, पृष्ठ ११९ के पश्चात्।

८—वही।

९—जर्नल ऑव् इंडियन हिस्ट्री, भाग ५, पृष्ठ १९८, मद्रास।

१०—आर्केलाजिकल सर्वे ऑव् इंडिया रिपोर्ट, भाग ४८, पृष्ठ ३६।

कि अनुश्रुति के अनुसार उपर्युक्त नगर की स्थापना किसी यादव सरदार ने की और उसके पुत्र राव गोविंद ने वहाँ गोविंदेश्वर का मंदिर बनवाया। उक्त विद्वान् के मत्यनुसार राव गोविद यादव-वंश का गोविंदराज ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुश्रुति के कारण उक्त पुरातत्त्वविद् महोदय को राव गोविंद अर्थात् गोविंदराज के सिन्नार (श्रीनगर अथवा सेउणपुर) के निर्माता प्रथम सेउणचंद होने का भ्रम हो गया। गोविंदराज उसके वंश का तो है किंतु उसका पुत्र नहीं। इन तथ्यों को ध्यान में रखकर देवगिरि के यादवों की पहली राजधानी श्रीनगर (आधुनिक सिन्नार) ही मानी गई है।

यादवों का शासन दक्षिण भारत के अधिक अंश पर रहा। किंतु उनका मूल स्थान दक्षिण नहीं था। आर्यों की अन्य जातियों की भाँति वे भी उत्तरी भारत के ही थे और दक्षिण में जाकर श्रीनगर और देवगिरि जैसे बड़े बड़े राज्यों की स्थापना की। दक्षिण में वे कब और कहाँ से गए, यही विचारणीय विषय है। पहले यह देखना चाहिए कि इनकी वंश-परंपरा और इनका निवास-स्थान क्या और कहाँ है।

यादवों की उत्पत्ति

यादवों का इतिवृत्त भारतीय इतिहास के अति प्राचीन काल से कहा जा सकता है। भारतीय वाङ्मय के प्रथम ग्रंथ ऋग्वेद में 'यदु' का उल्लेख इस प्रकार है[1]—

यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पुरुषः स्थः[2]

यहाँ संस्कृत व्याकरण के अनुसार बहुवचन रूप 'यदुषु' अनेक यदुओं का बोधक है। अतः यह सहज ही कहा जा सकता है कि 'ऋग्वेद'-काल में यदु के वंशज एक से अनेक हो गए थे। पुराणों में उनका वर्णन विस्तार से किया गया है। पुराणानुसार यदु ऐल पुरूरवा के वंशज थे। ऐल के छह पुत्र हुए—(१) आयु, (२) मायु, (३) रमायु, (४) विश्वायु, (५) शतायु और (६) श्रुतायु। इनमें से जेठे आयु के पाँच पुत्र हुए, जिनमें नहुष सबसे बड़े थे। नहुष के पाँच पुत्रों में से एक ययाति थे जिन्होंने देवयानी का पाणिग्रहण किया।[3] इस विवाह से उनके पाँच पुत्र हुए—(१) यदु, (२) तुर्वशु (३) द्रुह्यु, (४) अनु और (५) पुरु। इन्हीं का उल्लेख उपर्युक्त ऋचा में हुआ है।

१—१।१०८।८। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'यदु' का उल्लेख हुआ है। देखिए १।१७४।१९; १।३६।१८; १।५४।६; ४।३०।१७; ५।३१।७ आदि।—संपादक।

२—सायणभाष्य, प्रथम भाग, पृष्ठ ६५८, वैदिक संशोधन मंडल, पूना।—संपादक।

३—ययाति की दूसरी स्त्री का नाम शर्मिष्ठा था। देखिए वायुपुराण, अध्याय ६८, श्लोक २३-२४, आनंदाश्रम संस्कृत सिरीज पूना, सन् १९०५ ई०।

[विष्णु-पुराण के अनुसार यदु और तुर्वशु (दुर्वसु) तो देवयानी से उत्पन्न हुए थे और शेष तीन वृषपर्वा की कन्या शर्मिष्ठा के गर्भ से। दशम अध्याय में लिखा है—

[यदुं च दुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत। द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी ॥६॥ मिलाइए हरिवंशपुराण, पर्व १, अध्याय ३०, श्लोक ५, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई। —संपादक।

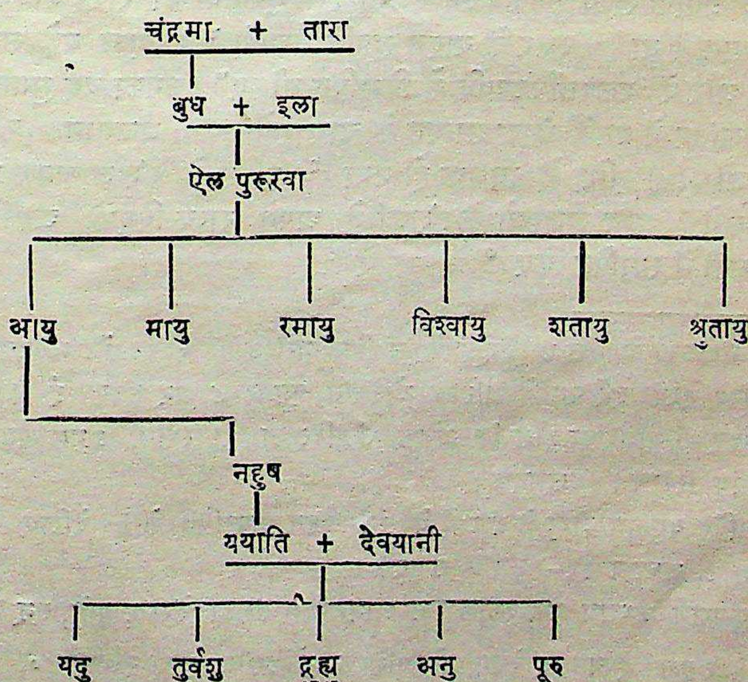
ऐल पुरूरवा चंद्रमा के पुत्र थे। चंद्रमा और तारा के संयोग से बुध की उत्पत्ति हुई।[1] बुध ने मनु की कन्या इला से विवाह किया जिससे पुरूरवा का जन्म हुआ। इला-पुत्र होने के कारण पुरूरवा ऐल कहलाए। इस प्रकार यदु चंद्रमा की छठी पीढ़ी में हुए।[2]

यादवों का स्थान

यादवों की जन्मभूमि पुराणों में वर्णित अनुश्रुतियों के आधार पर मध्यदेश स्थिर होती है। प्रत्येक प्राचीन भारतीय राजवंश के मूल पुरुष मनु माने जाते हैं। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार वे अयोध्यानृपति घोषित हैं[3]; और अयोध्या मध्यदेश में

१—हरिवंश-पुराण, पर्व १, अध्याय २५, श्लोक ३०, ४४ ४५, गोपालनारायण ऐंड कंपनी, बंबई, सन् १८९५ ई०।

२—देवगिरि के यादव नृपति महादेव और रामदेव या रामचंद्र के श्रीकरणाधिप एवं प्रधान मंत्री तथा सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री हेमाद्रि ने भी इस वंश-क्रम का अनुमोदन किया है और अपने ग्रंथ चतुर्वर्ग चिंतामणि के व्रतखंड की भूमिका में उन्होंने विष्णु के अवतार एवं महाभारत-युद्ध के प्रसिद्ध नेता श्रीकृष्ण का जन्म भी इसी वंश में बतलाया है। पूरा वंश-वृक्ष यह है—



३—देखिए लाला सीताराम, बी० ए० कृत अयोध्या का इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २४।
—संपादक।

ही अवस्थित है। इन्हीं मनु की पुत्री इला से उत्पन्न ऐल पुरूरवा प्रतिष्ठान के शासक थे जो अधुना प्रयाग के निकट मूसी नाम से प्रसिद्ध है।[1] पुराणों के आधार पर श्री पार्जिटर का कथन है कि "प्रतिष्ठान के सिंहासन पर पुरूरवा के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र आयु आरूढ़ हुए। दूसरे पुत्र अमावसु ने एक दूसरे राज्य की स्थापना कर कान्यकुब्ज को अपनी राजधानी घोषित की। आयु के बाद अति प्रसिद्ध नहुष राजा हुए। नहुष के पुत्र और उत्तराधिकारी ययाति सुप्रसिद्ध विजेता निकले और उन्होंने अपने राज्य का सम्यक् विस्तार कर सम्राट् की उपाधि धारण की।" उपर्युक्त विद्वान् के मतानुसार 'उन्होंने कान्यकुब्ज एवं अयोध्या के पश्चिम में स्थित संपूर्ण मध्यदेश पर ही अधिकार नहीं किया बल्कि उत्तर में सरस्वती नदी के तीर तक तथा दक्षिण-पूर्व एवं पश्चिम के प्रदेशों पर भी अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की। इस विस्तृत साम्राज्य को उन्होंने अपने पाँचो पुत्रों को विभाजित कर दिया और अपने कनिष्ठ एवं परम आज्ञाकारी पुत्र पुरु को मध्यदेश की परंपरित राजधानी प्रतिष्ठान का अधीश्वर बनाया। शेष चारो पुत्रों को उन्होंने चारो ओर के अन्य प्रांत दिए। नैर्ऋत्य कोण (दक्षिण-पश्चिम) का राज्य यदु को, आग्नेय कोण (दक्षिण-पूर्व) का तुर्वशु को, पश्चिम का द्रुह्यु को तथा उत्तर का अनु को दिया। अतः यदु का राज्य चंबल (चर्मण्वती), बेतवा (वेत्रवती) तथा केन (शुक्तिमती) नदियों से सिक्त प्रदेशों में पड़ा'।[2]

यादव भारत की समस्त क्षत्रिय जातियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध थे।[3] यदु के वंश में हैहय बहुत प्रतापी राजा हुए। उनकी शाखा के नृपतियों का राज्य यादव साम्राज्य के दक्षिणी भाग में था। उत्तर के यादव नृपति शशबिंदु[4] ने बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना की और वे 'चक्रवर्ती' उपाधि से विभूषित भी हुए[5]। उनका यह सुमहत् यादव साम्राज्य कालांतर में उनके वंशज सात्वत के चार पुत्रों—(१) भजमान, (२) देववृद्धि, (३) अंधक और (४) वृष्णि में विभक्त हो गया।[6] वृष्णि के वंशज अक्रूर द्वारका में राज्य करने लगे। अन्य राजाओं के वंशजों ने अपने राज्य विदर्भ, अवंति, दशार्ण तथा माहिष्मती में स्थापित किए।[7]

१—श्री नंदलाल दे कृत ए जियोग्राफिकल डिक्शनरी ऑव् एंश्यंट ऐंड मीडिवल इंडिया।

२—देखिए ऐंश्यंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशंस, पृष्ठ २५८, सन् १९२२ ई०।

३—देखिए श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा संपादित टाड राजस्थान, प्रथम खंड, पृष्ठ १४६, द्वितीय संस्करण। —संपादक।

४—शशबिंदु यदु-पुत्र क्रौष्टु के वंश में थे और हैहय सहस्रजित् के। देखिए विष्णु-पुराण, अंश ४, अध्याय ११-१२। —संपादक।

५—वायु-पुराण, अध्याय ९५, श्लोक १९, आनंदाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, सन् १९०५ ई०।

६—पार्जिटर कृत ऐंश्यंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशंस, पृष्ठ २७९-२८०, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, सन् १९२२ ई०।

७—वही।

मथुरा के यादवों ने पुरु, शिवि और द्रुह्यु के वंशजों तथा मत्स्य प्रदेश के नृपतियों को संघटित कर पांचाल प्रदेश के राजा सुदास से युद्ध किया, किंतु रावी के मैदान में वे हार गए। फलतः उनका उत्तर की ओर बढ़ाव रुक गया।[1] तत्पश्चात् महाभारत-काल में जरासंध और कालयवन के संयुक्त आक्रमणों के कारण यादवों को मथुरा छोड़कर दक्षिण में स्थित द्वारका की ओर चला जाना पड़ा।

पुराणों की इन अनुश्रुतियों पर अविश्वास का कोई कारण नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इनके मूल में कोई विशेष प्रयोजन निहित नहीं है। 'ऋग्वेद' के उल्लेखानुसार सरस्वती नदी के तट पर विद्यमान पंजाब के यादवों को हमें कम से कम उक्त वेद के संकलन के समय तो वहाँ विद्यमान मानना ही पड़ेगा। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि वहाँ वे प्रतिष्ठान (प्रयाग) से ही गए। विलंबर से संकलित होने के कारण ही पुराण अग्राह्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे अनुश्रुतियों के अनुसार संकलित हुए हैं और अनुश्रुति निर्मूल नहीं होती। अतः अन्य किसी पुष्टतर ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में उनका कथन सर्वथा त्याज्य नहीं। ययाति के वंशजों का विकास प्रतिष्ठान से मान लेने पर यह समस्या कि आर्यों का विस्तार पंजाब से आरंभ हुआ या मध्यदेश से अवश्य खड़ी होगी। जो भी हो पुराणों के अनुसार तो यह सिद्ध ही है कि यादवों की उत्पत्ति अति प्राचीन काल में हुई और उनका मूल स्थान मध्यदेश ही था। अब देखना यह है कि वे दक्षिण कब और किधर से गए।

यादवों का दक्षिण-प्रवेश

दक्षिण-प्रवेश के लिये यादवों ने दो मार्गों का अवलंबन किया। प्रथमतः वे हैहय-वंशी राजा कार्तवीर्य के नेतृत्व में मध्यदेश से सीधे दक्षिण की ओर गए और द्वितीयतः कृष्ण के नेतृत्व में गुजरात (पश्चिम) से होकर। कार्तवीर्य ने कृष्ण से कई पीढ़ियों पूर्व ही दक्षिण में प्रवेश किया था। 'हरिवंश-पुराण' के अनुसार सूर्य की कठिन तपस्या के फलस्वरूप कार्तवीर्य ने वर प्राप्त कर अनेक नगरों से युक्त समुद्र-परिध सप्तद्वीपों को जीता और चक्रवर्ती उपाधि धारण की। उन्होंने महिष्मती[2] पर विजय प्राप्त कर नागवंशी कर्कोटक कन्या से विवाह किया और वहीं अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। उन्होंने नर्मदा में, जो मानो भीत हो उनके चरणों में चली आई, स्नान किया।[3]

यादववंशी हैहय-शाखा के इस सीधे बढ़ाव के अतिरिक्त कृष्ण के अनुयायियों

१—वही, पृष्ठ २८१।

२—श्री नंदलाल दे ने माहिष्मती को इंदौर से चालीस मील दक्षिण नर्मदा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित महेश्वर या माहिस से मिलाया है। देखिए—'दि जाग्राफिकल डिक्शनरी ऑव् एंश्यंट ऐंड मिडिवल इंडिया, पृष्ठ ५६, कलकत्ता १८९९।

३—हरिवंश-पुराण, अध्याय ३३, श्लोक १, ११, १५, १६, २८, गोपालनारायण ऐंड को०, बंबई, सन् १८९५ ई०।

का बढ़ाव थोड़ा घूमकर गुजरात और काठियावाड़ में स्थित द्वारका से होकर दक्षिण की ओर हुआ।

'ब्रह्म-पुराण' में लिखा है, और पहले इसका संकेत भी किया जा चुका है, कि कालयवन ने बहुत बड़ी सेना लेकर मथुरा पर चढ़ाई की जिसके कारण अंधक और वृष्णि के वंशजों को कृष्ण के नेतृत्व में कुशस्थलपुरी द्वारका की ओर पलायन करना पड़ा।[1] यह वृत्तांत प्रायः अक्षरशः 'हरिवंश-पुराण' के पैंतीसवें अध्याय में भी वर्णित है। 'महाभारत' से प्रकट है कि द्वारका जाने के उपरांत यादवों ने गणतंत्राधिपति कृष्ण के नेतृत्व में महाभारत युद्ध में भी योग दिया। इससे इतना तो निश्चित ही है कि वे अपने लिये दक्षिण में एक ऐसा प्रभुसत्तात्मक राज्य (गणतंत्र) स्थापित करने में सफल रहे जिसके पास महाभारत युद्ध में योग देने के लिये शक्तिशाली पर्याप्त सेना थी। किंतु उक्त युद्ध के पश्चात् इन यादवों का क्या हुआ, सम्यक् ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में कुछ बता सकना कठिन है। हाँ, दंतकथाओं से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि किसी महान् जलप्लावन में यादव राज्य डूब गया और श्रीकृष्ण के लिये कष्ट का कारण बना। यादवों की उसके बाद की कथा का भी कुछ पता नहीं।

इतिहास के अनुसार दक्षिण में यादव-साम्राज्य के सर्वप्रथम संस्थापक राष्ट्रकूट ही माने जाते हैं। वे महाराष्ट्र प्रदेश के शासक थे। वरधा से उनका जो दानपत्र प्राप्त हुआ है उसमें उनका संबंध उन्हीं पौराणिक यदु और उनके वंशजों से बताया गया है जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। कुछ विद्वानों को उनके यादव होने में संदेह है।[2] किंतु वे राठौड़ यदुवंशी ही हैं, यह अनेक अभिलेखों द्वारा प्रमाणित है।[3] दक्षिण में यादवों का दूसरा बड़ा साम्राज्य द्वारसमुद्र के होयशलों ने स्थापित किया। उन्होंने महाराष्ट्र के एक बड़े भाग पर शासन भी किया। वे भी अपना संबंध राठौड़ों की ही भाँति उन्हीं चंद्रवंशी यदु से जोड़ते हैं।[4] उनके अभिलेखों आदि में उनके नाम 'यादव-कुल-कमल-कलिका-विकास-भास्कर' जैसी उपाधियों से अलंकृत मिलते हैं। यद्यपि वे द्वारका के कभी स्वामी नहीं रहे तथापि श्रीकृष्ण और उनकी राजधानी से अपना संबंध जोड़ने की इच्छा से वे अपने को 'द्वारावतीपुरवराधीश्वर'[5] भी कहते थे।

श्रीनगर के यादव, जिन्होंने बाद में देवगिरि को अपनी राजधानी बना ली, यदु-वंश के ही उनका अभ्युदय दक्षिण में ईसा की नवीं शती के अंत में हुआ। श्रीनगर में

१—ब्रह्म-पुराण, अध्याय, १४, श्लोक ५३–५७, आनंदाश्रम संस्कृत सिरीज, पूना, सन् १८९५ ई०।

२—अनंत सदाशिव अल्तेकर कृत हिस्ट्री ऑव् दि राष्ट्रकूटज, सन् १९३४ ई० पृष्ठ १६ के पश्चात्; बर्नेल कृत साउथ इंडियन पैलियोग्राफी, पृष्ठ १०।

३—इंडियन एंटिक्वेरी, भाग ११, पृष्ठ १५७ के पश्चात्; जर्नल ऑव् दि रायलएशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका भाग १, पृष्ठ २१७, बंबई; वही, भाग ४, पृष्ठ १११।

४—मैसूर इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २१३, २६०।

५—देखिए फ्लीटकृत 'डाइनेस्टीज ऑव् दि कनारीज डिस्ट्रिक्टस्' पृष्ठ ४९ सन् १८९६ ई०।

पहले वे राष्ट्रकूटों के और बाद में चालुक्यों के प्रमुख सामंतों के रूप में शासन करते रहे। राष्ट्रकूटों एवं द्वारसमुद्र के होयशलों की ही भाँति उन्होंने भी अपने को 'द्वारावतीपुरवरा-धीश्वर'[1] कहा और कृष्ण के प्रति महान् आदर का प्रदर्शन किया। इस प्रकार श्रीनगर और देवगिरि के शासकों ने दक्षिण भारत में प्राचीन काल से चली आती हुई राष्ट्रकूटों की यादव राज्य-परंपरा को विच्छिन्न नहीं होने दिया।

श्रीनगर और देवगिरि के शासकों के संबंध में अब तक जितनी बातें बताई गईं उनसे यह स्पष्ट है कि वे यादव ही थे। अधिकांश ऐतिहासिकों का भी यही मत है। किंतु कुछ लोगों को इसमें संदेह है। श्री जे० एफ० फ्लीट का कथन है कि यादव होने का देवगिरि के शासकों का दावा उसी पौराणिक वंशावली पर आश्रित है, जो सर्वप्रथम उनसे एक शती पूर्व सन् १०००-ई० के एक शिलालेखों में दृष्टिगत होती है।[2] उनके मत से देवगिरि के यादवों ने अपनी चंद्रवंशी-क्षत्रिय-वंशावली गढ़ ली है। परंतु उन्होंने संदेहमात्र व्यक्त किया है, अपने कथन की पुष्टि के लिये न तो कोई तर्क ही उपस्थित किया है और न कोई निश्चित विचार ही, जिससे उनके संदेह का कारण ज्ञात हो सके। जब तक कोई ऐसा प्रमाण सामने नहीं आता जिससे यह सिद्ध हो सके कि वे यादवों से इतर अन्य कोई थे, तब तक उनके यादव होने में संदेह नहीं किया जा सकता।

देवगिरि के यादव राजा रामचंद्र एवं उनके पितृव्य महादेव के प्रधान-मंत्री तथा श्रीकरणाधिप प्रमुख प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्री हेमाद्रि ने अपने ग्रंथ 'चतुर्वर्ग चिंतामणि' के व्रत-खंड की भूमिका में श्रीनगर और देवगिरि के यादवों का संक्षिप्त किंतु प्रायः पूर्ण इतिहास दिया है।[3] उनका वर्णन पुराणों से पूर्णतः मेल खाता है। उनके अनुसार चंद्रवंश में सुबाहु नामक प्रथम ऐतिहासिक राजा हुए जिनसे श्रीनगर और देवगिरि के यादवों की शाखा चली।[4] हेमाद्रि के उल्लेख के अतिरिक्त भी ऐसे अनेक लेख हैं जो श्रीनगर और देवगिरि के शासकों को यादव ही सिद्ध करते हैं। द्वितीय भिल्लम के सन् १०६९ ई० के बेसीन-दानपत्र में यदुपति के स्वामी अर्थात् उक्त राजा को शंकर की कृपा की आकांक्षा व्यक्त की गई है।[5] इसमें श्रीनगर के सर्वप्रथम नृपति दृढ़प्रहार की तुलना भगवान् विष्णु से की गई है और उन्हें विष्णु के उपासक तथा उन्हीं के वंश में उत्पन्न भी बताया गया है। सेउणदेव को अंजनेरी दानपत्र में समाधिगत पंचमहाशब्द द्वारावतीपुर-परमेश्वर-विष्णु वंशोद्भव-यादव-कुल-कमल-कलिका-विकास-भास्कर-यादवनारायण 'सामंत' आदि उपा-

---

१—जर्नल ऑव् दि रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग १२, पृष्ठ ७ इंडियन एक्टिक्वेरी, भाग १२, पृष्ठ ११९, १२६।

२—देखिए डाइनेस्टीज ऑव दि कनारीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृष्ठ ५११, सन् १८९६ ई०।

३—एपिग्राफिया इंडिका, भाग १३, पृष्ठ १९८।

४—विस्तृत विवरण के लिये देखिए चतुर्वर्ग-चिंतामणि के व्रत-खंड की भूमिका।

५—इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग १२, पृष्ठ ११९ के पश्चात्।

धियों से विभूषित किया गया है।[1] सन् १२७१ ई० के रामचंद्र के पैठान शिलालेख में वर्णन है[2] कि "भगवान् विष्णु की नाभि से उद्भूत कमल से विरंचि की उत्पत्ति हुई। उनसे अत्रि जन्मे जिनसे चंद्रमा का प्रादुर्भाव हुआ। चंद्रमा के वंशज पुरूरवा ने उर्वशी से विवाह किया तथा उन दोनों से ययाति और पुनः उनसे यदु का जन्म हुआ जिनसे इस लोक में यादवों का वंश-विस्तार हुआ। इसी विष्णुकुल में राजा सिंहण और रामचंद्र आदि नृपतियों की उत्पत्ति हुई।" ऐसे ही सिंहण यादव का सन् १२२५ ई० का बहाल-लेख,[3] पंचम भिल्लम का गडग-लेख[4] तथा द्वितीय भिल्लम की सन् १००० ई० का संगमनेर लेख[5] भी प्रसिद्ध है। यादवों के प्रायः सभी लेख उन्हें यदु-कुल में उत्पन्न क्षत्रिय मानते हैं जिन्होंने प्रथमतः श्रीनगर और तत्पश्चात् देवगिरि में शासन किया।

'प्रतापरुद्रीय' के लेखक श्रीविद्यानाथ ने भी देवगिरि के राजाओं को चंद्रवंशी यादव बताया है। वह तिलंगाधिपति प्रतापरुद्र की वीरता का वर्णन करता हुआ उसके समकालीन देवगिरि के राजा रामचंद्र को 'यादववंश-पार्थिवमणि' कहता है।[6]

मान-मर्यादा

श्रीनगर और देवगिरि के यादवों के वंश की प्रतिष्ठा किसी से कम नहीं थी। ऐतिहासिक लेखों से यह निर्विवाद है कि श्रीनगर के यादवों का वैवाहिक संबंध मान्यखेट के प्रतिष्ठित राष्ट्रकूटों से रहा। द्वितीय भिल्लम के सन् १००० ई० के संगमनेर फलक से ज्ञात होता है कि दाता का पिता वद्दिग राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्णराज (सन् ९४५ ई० से ९५६ ई०) के सामंत के रूप में शासन करता था तथा धारप्प की कन्या वोद्दियव्वा से विवाह किया था।[7] डाक्टर कीलहार्न ने उक्त धोरप्प को कृष्णराज राष्ट्रकूट का छोटा भाई निरूपम मानने का सुझाव रखा था।[8] यदि यह सुझाव हम मान लें तो यादवों का राष्ट्रकूटों से वैवाहिक संबंध स्थापित हो जाता है। डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने एक दूसरे दानपत्र के आधार पर यह सिद्ध किया है कि द्वितीय भिल्लम

१— वही भाग पृष्ठ १२६।
२— वही भाग १४ पृष्ठ ३१७ से।
३—एपिग्राफिया इंडिका, भाग ३ पृष्ठ ११०–१११।
४— वही भाग ३ पृष्ठ २१८ से।
५— वही भाग २ पृष्ठ २१२ से।
६—इंडियन एंटिक्वेरी, भाग २१, पृष्ठ १९९।
यादववंश राज्ञो पार्थिवमणेः प्रख्यातशौर्यश्रियस्त्वंग-तुंगतुरंगसैन्य महतो मौन कवितस्य च। सद्यो रुद्रनरेन्द्रनाय क-चूसनाथेन केनाप्यधिक्षितस्या चरितानि सेवगपतेर्जानाति सा गौतमी।१५६
प्रतापरुद्रयशोभूषण, अर्थालंकार प्रकरण, पृष्ठ ४३९। —संपादक
७—एपिग्राफिया इंडिका, भाग २, पृष्ठ २१२।
८—वही।

न राठौड़ भंभ नामक एक सरदार की कन्या लक्ष्मी या लच्छियव्वा से विवाह किया था।[1] इस प्रकार के संबंधों से यह स्पष्ट है कि श्रीनगर और देवगिरि के यादव बहुत प्रतिष्ठित वंश के माने जाते थे। यदि हम राष्ट्रकूटों की यादवकुलोत्पत्ति में विद्वानों के संदेह[2] का ध्यान रखें तो भी यादवों की कुल-मर्यादा में कुछ बट्टा नहीं लगता। साम्राज्य-शक्ति अपने हाथ में होने पर राष्ट्रकूटों का अपनी कन्याओं का विवाह श्रीनगर के सामंत-यादव-कुल में करना वरपक्ष की प्रतिष्ठा का ही द्योतक है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्यों को ध्यान में रखते हुए श्रीनगर और देवगिरि के नृपति चंद्रवंशी यदु के ही वंशज ठहरते हैं। उनके पूर्वजों ने मूल स्थान प्रतिष्ठान से बढ़कर मध्यदेश एवं उत्तर में पंजाब के अनेक प्रांतों पर अधिकार किया तथा दक्षिण में वे श्रीकृष्ण के नेतृत्व में मथुरा से चलकर द्वारका (गुजरात) होते हुए प्रविष्ट हुए। उनके दक्षिण-प्रवेश की कोई निश्चित तिथि नहीं बताई जा सकती। पुराण, लेख, हेमाद्रि का चतुर्वर्ग-चिंतामणि, श्रीविद्यानाथ विरचित 'प्रतापरुद्रीय' आदि सभी एक मत से श्रीनगर और देवगिरि के विचारांतर्गत यादवों को चंद्रवंशी कृष्ण के वंश का ही मानते हैं। इन यादवों का संबंध भी तत्कालीन प्रसिद्ध एवं कुलीन क्षत्रिय नृपतियों से रहा है।

१—अर्ली हिस्ट्री ऑव् दि डेकन, पृष्ठ १७५, तृतीय संस्करण।
[द्वितीय भिल्लम के पुत्र और पौत्र ने प्रसिद्ध सोलंकी राजाओं की भी कन्याओं से विवाह किया था। विस्तृत विवरण के लिये देखिए श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा संपादित टाडराजस्थान, पृष्ठ २१३, द्वितीय संस्करण —संपादक]

२—देखिए पीछे, पृष्ठ ७।

दशोन

[इतिहास-शिरोमणि डाक्टर देवसहाय त्रिवेदी एम० ए०, पी एच० डी०, पटना]

प्राचीन भारत के इतिहास में अनेक गुत्थियाँ हैं। उन गुत्थियों में से मौर्य-वंशावली भी एक है। अनेक प्रकांड पुरातत्त्वविदों के अथक परिश्रम करने पर भी इसका सुलझना सरल नहीं। दशोन को प्रायः सभी आधुनिक इतिहासकार मौर्यवंश का एक राजा मानते हैं। यह भूल सर्वश्री पार्जिटर, जायसवाल, त्रिपाठी तथा अन्यों ने भी की है।

कुणाल तनयाश्चाष्टौ भोक्तारो बंधुपालिताः।
दशोनः सप्त वर्षाणि तस्य राज्यं भविष्यति[1]॥

श्री पार्जिटर[2] इसका अर्थ करते हैं—कुणाल का पुत्र बंधुपलित आठ वर्ष राज्य करेगा। उसका (अशोक का , पौत्र दशोन सात वर्ष राज्य करेगा। 'मत्स्य' का पाठ है—"सप्तानां दश वर्षाणि तस्य नप्ता भविष्यति"। मत्स्य के दूसरे पाठ इस प्रकार हैं—'सप्तानो यो सप्तानां'। अतः स्पष्ट है कि इस विद्वान् पुरातत्त्ववेत्ता ने 'मत्स्य' के पाठ पर ध्यान नहीं दिया। ये 'मत्स्य' के 'सप्तानां' पाठ को 'सुयशाः' में परिवर्तित करना चाहते हैं, जो 'विष्णु' और 'भागवत पुराण' में पाया जाता है। दिवंगत डाक्टर श्री काशीप्रसाद जायसवाल द्वारा[3] 'सुयशाः' को व्यक्तिवाचक संज्ञा न मानना ठीक है। वे इसका अर्थ करते हैं—'अच्छे यशवाला'। श्री पार्जिटर ने इसका संदर्भ ध्यान में नहीं रखा, अतः वे भ्रम-जाल में पड़ गए और उन्हें पाठ बदलने की सूझी। श्री जायसवाल के मतानुसार 'मत्स्य पुराण' अशोक के दौहित्रों का राज्य-काल १७ वर्ष (७+१०) 'सप्तानां दश' बतलाता है; जिनमें से प्रकारांतर से दशरथ (=बंधुपालित) का आठ वर्ष तथा संप्रति (=इंद्रपालित) का नव वर्ष निर्धारित होता है। इससे तात्पर्य यह है कि दौहित्रों का राज्य-काल सत्रह वर्ष तक रहा।

श्री जायसवाल ने अपना अर्थ करने के लिये बहुत खींचातानी की है। कम से कम व्याकरण की दृष्टि से तो इसका समर्थन नहीं किया जा सकता।

अब देखना यह है कि पार्जिटर ने कहाँ तक इसका अभिप्राय ठीक समझा है मैं समझता हूँ कि 'वाल्मीकिरामायण' को छोड़कर कहीं भी 'दशोन' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

१—वायु पुराण[1]।

२—ए टेक्स्ट आव् दि डायनेस्टीज आव् दि कलि एज आक्सफर्ड यूनिवरसिटी प्रेस, पृष्ठ २५, २९, ७०।

३—जर्नल आव् बिहार रिसर्च सोसाइटी, भाग १, पृष्ठ ९८।

पूर्णे वर्ष सहस्रे सा दशोने रघुनन्दन[४]।

'रामायण' के सभी टीकाकारों ने—यथा,–गोविंदराज ने 'भूषण' में, नागोजी ने 'तिलका' में और शिरोमणि ने—इसका अर्थ किया है—'दश कम'—'दशभिर्न्यूने' अथवा 'दशावर्षन्यूने'। इसका विग्रह इस प्रकार किया जा सकता है—'दश ऊना यस्मिन्'। अतः पार्जिटर ने सोचा कि 'सात में से दश कम' अनर्थ होगा। इसलिये उन्होंने 'दशोन' को व्यक्तिवाचक संज्ञा मानकर इसका भाषांतर कर डाला। इस आधार पर 'सप्तोन' को भी व्यक्तिवाचक माना जा सकता था, किंतु उन्होंने ऐसा साहस न किया। किंतु सभी नाम अनर्थ नहीं होते, भले ही हम उनका[१] अर्थ न जानें। कम से कम ऐसा नाम कभी सुनने में नहीं आया। मत्स्य की सहायता से ही हम इस पद का सत्य और उपयुक्त अर्थ समझ सकते हैं। सरलतया इसका अर्थ हो जायगा—उसका दौहित्र (१०×७) ७० वर्ष राज्य करेगा। इससे हमें 'वायुपुराण' के भी पाठ-संशोधन का अवलंब मिल जायगा और हम पढ़ सकेंगे—'दशानां सप्त वर्षाणि'। इस दशा में इसका भी वही ७० वर्ष (१०×७) अर्थ होगा।

'मंजुश्रीमूलकल्प'[२] से भी ज्ञात होता है कि "एक राजा ने बालपन में राज्य पाया, अनंत सुखों का भोग किया; वह प्रौढ़, हृष्टपुष्ट, साहसी, चतुर, मधुरभाषी, आत्मसंयत था। उसने ७० वर्ष राज्य किया।" अब विचार करें यह बालक कौन हो सकता है। श्री त्रिभुवनलाल शाह की समझ से तारानाथ के मतानुसार संप्रति ने ५४ वर्ष राज्य किया। मैं तिब्बती सूत्र से इसका निर्णय तो न कर सका किंतु अँगरेजी अनुवाद से जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ तारानाथ संप्रति का नाम भी नहीं लेते और न उसका राज्यकाल ही बतलाते हैं। तारानाथ[३] के मतानुसार अशोक की मृत्यु के बाद उसका दौहित्र विगताशोक (=इंद्रपालित) गद्दी पर बैठा। संभव है, यह बात पौराणिक और तिब्बती भिक्षु वस्तन[४] के कथन के प्रतिकूल हो। श्री शाह[५] कहते हैं कि संप्रति १४ वर्ष की वय में गद्दी पर बैठा। किंतु भारतीय पारिभाषिक परंपरा[६] के अनुसार

१—रामायण, गुजराती प्रेस, मुंबई संस्करण, १।४६।१२।

२—श्री जायसवाल कृत ऐन इंपीरियल हिस्ट्री आव् इंडिया, लाहौर, १९३४।

बाल एव ततो राजा प्राप्तः सौख्यमनल्पकम्॥ ४४८॥
प्रौढ़ो दृढस्च संवृत्तः प्रगल्भाश्चापि प्रियवादिनम्।
स्वाधीन एव तद्राज्यं कुर्याद् वर्षाणि सप्तति॥ ४४९॥

३—इंडियन एंटिक्वेरी सन् १८७५, पृष्ठ ३६२।

४—इसका काल वि० सं० १३४८-१४२० तक है।

५—एंशियंट इंडिया, भाग २, पृष्ठ २५६।

६—(क) भागवत, १०।१२।३७ पर श्रीधरी टीका कौमारं पंचमाब्दांतं पौगंडे दशमावधि।
कैशोरमापंचदशाद् यौवनं च ततः परम्॥

(ख) पुत्रो बालको दशवार्षिकः।—रामायण ४।४८।१२

१४ वर्ष की वय बाल्यकाल नहीं होता। पाँच वर्ष की वय तक कुमार, ५ से १० तक पौगंड, १५ तक किशोर और उसके बाद युवा अवस्था होती है। 'मंजुश्रीमूलकल्प' दृढ़ता के साथ कहता है कि वह बाल्यकाल में ही गद्दी पर बैठा अर्थात् तब वह पाँच वर्ष[1] का था। श्री शाह का यह कथन ठीक है कि कुणाल अंधा होने के कारण अपना राज्याधिकार खो बैठा और संप्रति गद्दी पर बैठा। जब पिता ने राज्य नहीं किया तब उसका पुत्र कैसे अधिकारी हो सकता है। महाभारत की लड़ाई की जड़ यही है। मतलब यह है कि कुणाल के आठ पुत्रों ने कभी शासन नहीं किया, राजभोग भले ही किया हो (तुलना कीजिए—भोक्तारो)। श्री शाह ने अपने ग्रंथ के चार भागों में कहीं भी मूल स्रोत से संप्रति के ५४ वर्ष राज्य करने का प्रमाण ढूँढ़ने में हमारी सहायता नहीं की। श्री शाह का कथन सत्य होने पर भी हम प्रायः ७० वर्ष की संख्या प्राप्त कर सकते हैं, यदि संप्रति के बाल्यकाल के नव वर्ष (१४–१५) और कुणाल के पुत्रों का भोगकाल ८ वर्ष इस ५३ या ५४ में जोड़ें—यथा (५४ + ६ + ८) = ७१ वर्ष।

'वायु पुराण' के पाठ के दो अर्थ हो सकते हैं—यथा कुणाल के आठ पुत्रों या बंधुपालित और अन्यों ने ८ वर्ष राज्य किया। श्री शाह ने तिब्बती भिक्षु तारानाथ को अशुद्धरूपेण उद्धृत कर सत्य का गला घोंटा है। जैन-परंपरा संभवतः 'अष्टौ' शब्द से चक्कर में आ गई। 'अष्टौ' का 'तनय' के साथ अन्वय राज्यवर्ष से अधिक उपयुक्त है। किंतु हमें ज्ञात है कि जैन-परंपरा तथा तारानाथ से भी बहुत पूर्व के बौद्ध स्रोत से पौराणिक परंपरा की पुष्टि होती है। अतः यह अधिक विश्वसनीय है और इस कारण राज्यवर्ष और क्रम के संबंध में निर्विवाद रूप से प्रामाणिक ग्रंथ है।

बालराज कुणाल का संबंधी[2] था, न कि पुत्र, जैसा कि 'दिव्यावदान' तथा जिनप्रभसूरि के 'पाटलिपुत्रकल्प' से ज्ञात होता है। संभवतः वह अशोक का दौहित्र था (तुलना कीजिए—नप्ता)। अब हमें अशोक के उत्तराधिकारी के प्रश्न का समाधान करना चाहिए। इस प्रश्न तथा मगध-वंशावली में संप्रति के स्थान को दूसरे निबंध में सुलझाने का यत्न किया जायगा।

अतः प्रकृत पाठ का अर्थ निम्न प्रकार[3] से किया जा सकता है। 'कुणाल के बंधुपालित आदि आठ पुत्रों ने भोग किया। उसके (अशोक के) नप्ता (इंद्रपालित) ने ७० वर्ष राज्य किया।"

—:o:—

१—तुलना कीजिए—

बालोऽहं जगदानंदः न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पंचमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम्॥

२—श्री हेमचंद्र रायचौधरीकृत पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एंशियंट इंडिया, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २२१।

३—जर्नल आव् दि कलिंग हिस्टारिक रिसर्च सोसायटी, बालनगीर, भाग १, पृष्ठ १०४–१०५।

व्यंजना अर्थ का व्यापार है, शब्द का नहीं

[श्री कांतानाथ शास्त्री तैलंग, एम० ए०]

(२)

अभिनवगुप्ताचार्य के बाद मम्मटाचार्य अलंकार-शास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य हुए। इनके बाद के आचार्यों के मतों पर विचार करने के पहले हम एक बार पुनः 'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगम्' इत्यादि वाक्य पर विचार कर लेना चाहते हैं जिसका उल्लेख गतांक में कर चुके हैं, क्योंकि इस वाक्य का दूसरा अर्थ भी हो सकता है।

अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाधवला-ट्टहासो महाकालः।

प्रासंगिक अर्थ—इसी बीच वसंत ऋतु के दोनों महीनों का उपसंहार करते हुए, बाजार को हृद्य बनानेवाले फुल्लमल्लिका के विकासवाला, ग्रीष्म नाम का महासमय आरंभ हुआ।

अप्रासंगिक अर्थ—फुल्ल मल्लिका के सदृश धवल अट्टहासवाला महाकाल।

प्रासंगिक और अप्रासंगिक अर्थ की रूपणा—महाकाल (देवता विशेष) के सदृश महा काल (महा समय)।

यह अर्थ भी किया जाय, तो भी सिद्धांत में कोई अंतर नहीं आता। यहाँ 'महाकाल' आदि शब्द ऋतु पक्ष के अर्थ को अभिधा शक्ति द्वारा उपस्थित करते हैं और देवता विशेष के पक्ष के अर्थ को अभिधा शक्ति द्वारा उपस्थित नहीं करते, यह मान लेने के लिये कोई प्रबल युक्ति नहीं दिखाई देती; प्रत्युत दोनों अर्थ अभिधा शक्ति द्वारा उपस्थित किए जाते हैं, यह मानने के लिये दोनों अर्थों का संकेतित अर्थ होना तर्क-संमत है। अभिधा व्यापार द्वारा दोनों अर्थों के उपस्थित हो जाने पर प्रकरणादि इस बात का निर्णय करते हैं कि कौन सा अर्थ प्राकरणिक है और कौन सा अप्राकरणिक। उपर्युक्त उदाहरण में 'ग्रीष्माभिधानः' पद का सान्निध्य यह बतलाता है कि यहाँ ऋतु पक्ष का अर्थ प्राकरणिक है और देवता विशेष के पक्ष का अर्थ अप्राकरणिक। संकेतित अर्थ सर्वदा वाच्य ही होगा, व्यंग्य नहीं हो सकता।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। जहाँ योगरूढ़ शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ 'रूढ़िर्योगापहारिणी' अर्थात् 'रूढ़ि योग शक्ति को दबा देती है' इस नियम से पहले रूढ्यर्थ की ही उपस्थिति होती है, तदनंतर यौगिक अर्थ की। जैसे 'पंकज' कहने पर पहले 'कमल' का ज्ञान होता है, तदनंतर 'पंक से उत्पन्न होनेवाला' का। इस सिद्धांत के अनुसार "अत्रान्तरे" इत्यादि उदाहरण में 'महाकाल' आदि शब्दों से पहले देवता विशेष के पक्ष का ही अर्थ उपस्थित होगा, क्योंकि वह रूढ़ अर्थ है; तदनंतर ऋतु के पक्ष का अर्थ उपस्थित होगा, क्योंकि वह यौगिक है। यदि यह माना

जाय कि प्रथम अर्थ में अभिधा का नियंत्रण हो जाने से द्वितीय अर्थ की उपस्थिति व्यंजना-व्यापार द्वारा होती है तो इस उदाहरण में अप्राकरणिक अर्थ ही अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त अर्थ और प्राकरणिक अर्थ व्यंजना-व्यापारगम्य अर्थ हो जायगा। इससे तो सारी व्यवस्था ही उलट जायगी। हमारे सिद्धांत के अनुसार यदि दोनों अर्थों को अभिधाशक्ति-प्रतिपाद्य ही माना जाय तो कोई गड़बड़ी नहीं होगी। अभिधा शक्ति द्वारा दोनों अर्थों की उपस्थिति हो जाने पर प्रकरणादि द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि कौन सा अर्थ यहाँ मुख्यतया अपेक्षित है और कौन सा गौणतया। मुख्यतया अपेक्षित अर्थों को लेकर प्राकरणिक वाक्यार्थ की उपस्थिति पहले हो जायगी, तदनंतर गौणतया अपेक्षित अर्थों को लेकर अप्राकरणिक वाक्यार्थ की उपस्थिति होगी। पीछे दोनों का उपमान-उपमेय भाव भी व्यक्त हो जायगा। उभय अर्थ वाच्यार्थ होंगे और अलंकारांश व्यंग्य होगा।

इस उदाहरण के विषय में अभिनवगुप्ताचार्य का मत यह है कि यहाँ 'अवयव-प्रसिद्धि की अपेक्षा समुदाय-प्रसिद्धि बलवती होती है;' इस नियम का बाध कर 'महा-काल' आदि शब्द केवल ऋतु पक्ष के अर्थ को उपस्थित कर शांत हो जाते हैं, क्योंकि उनकी अभिधाशक्ति ऋतु-वर्णन के प्रस्ताव से नियंत्रित हो जाती है। तदनंतर देवता पक्ष के अर्थ की उपस्थिति व्यंजना व्यापार द्वारा होती है।[१]

अभिनवगुप्ताचार्य का यह मत अनुभव से मेल नहीं खाता। अनुभव यही कहता है कि योगरूढ़ि स्थल में रूढ़िलभ्य अर्थ की ही उपस्थिति पहले होती है। जब वह अर्थ प्रकरण की दृष्टि से ठीक नहीं प्रतीत होता तभी यौगिक अर्थ की उपस्थिति होती है; अन्यथा रूढ़ि का महत्त्व ही कुछ न रह जायगा। यहाँ एक बात और विचारणीय है। योगरूढ़ शब्दों में योग शक्ति और रूढ़ि शक्ति का संकर होता है। यदि प्रकरणादि द्वारा एक शक्ति का नियंत्रण भी स्वीकार कर लिया जाय तो भी दूसरी शक्ति छुटी ही रह जाती है। वह दूसरे अर्थ को उपस्थित करेगी और वह अर्थ भी वाच्यार्थ कहलाएगा। ऐसे स्थलों में व्यंजना के लिये तो कोई स्थान ही नहीं दिखाई देता। हाँ, प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों की रूपणा में व्यंजना होती है। उसमें हमारा कोई विवाद नहीं। उस विषय में केवल इतना ही कहना है कि वह अलंकारांश अर्थों से उपस्थित होता है, इसलिये वह आर्थी व्यंजना का क्षेत्र है।

श्री मम्मटाचार्य शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि के विषय में अभिनवगुप्ताचार्य का ही अनुसरण करते हैं। जिस बात की ओर अभिनवगुप्ताचार्य ने संकेत किया उस बात को मम्मटाचार्य ने स्पष्ट कर दिया। वे कहते हैं कि वस्तु-ध्वनि का अर्थ है अलंकार रहित[२] केवल वस्तु-ध्वनि। यहाँ इन्होंने इस सिद्धांत के समर्थन के लिये नई युक्तियाँ नहीं दी हैं। अतः हम भी यहाँ कुछ कहना नहीं चाहते। अभिनवगुप्ताचार्य के मत के

१—ध्वन्यालोक, काव्यमाला संस्करण, पृष्ठ ९९।
२—अनलङ्कारं वस्तुमात्रम्।—काव्यप्रकाश, वामनाचार्यकृत टीका सहित, पृष्ठ १२८, चतुर्थ संस्करण।

विषय में जो कुछ हमने कहा है उसी से इनके मत का भी निराकरण हो जाता है। इनके उदाहरणों की समीक्षा आगे होगी।

मम्मटाचार्य के बाद इस विषय में पंडितराज जगन्नाथ[1] ने नवीन विचार प्रकट किए। इनका मत है कि अनेकार्थक स्थल में दोनों अर्थ अभिधा व्यापार द्वारा ही उपस्थित किए जाते हैं। अप्राकरणिक अर्थ के लिये व्यंजना व्यापार का आश्रय नहीं लेना पड़ता। परंतु यह बात केवल रूढ़ि और योग शक्तियों के संबंध में ही होती है। योगरूढ़ि-शक्ति-स्थल में भिन्न प्रक्रिया होती है। जहाँ योगरूढ़ि-शक्तिवाले अर्थात् योग-रूढ़ शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ उन शब्दों में योग और रूढ़ि दो शक्तियों का संकर हो जाता है। ऐसे स्थलों में रूढ़ि शक्ति योग शक्ति का बाध कर देती है, रूढ़ि शक्ति से प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होती है। योग शक्ति बाधित हो जाने के कारण उल्लसित नहीं होती। अतः अवयव-लभ्य अर्थ व्यजना व्यापार द्वारा उपस्थित होता है।

पंडितराज ने इस विषय में विचार करते हुए 'रसगंगाधर' में अनेकार्थक स्थल में अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्यार्थ माननेवालों के दो मत उद्धृत किए हैं और दोनों मतों का सम्यक् युक्तियों से खंडन भी किया है। उन दोनों मतों को तथा उनके खंडन के लिये जो युक्तियाँ पंडितराज ने दी हैं उनको भी हम यहाँ दे देना चाहते हैं।

प्रथम मत[2]—प्रकरणादिज्ञान अथवा तदधीन तात्पर्यनिर्णय द्वितीय पदार्थोपस्थिति में प्रतिबंधक होते हैं। ऐसा न माना जाय, तो अनेकार्थक शब्दवाले वाक्यों से शाब्द बोध भी अनेक होंगे। परंतु ऐसा तो नहीं होता। प्रति वाक्य से शाब्द बोध तो एक ही होना चाहिए। अतएव कहा गया है कि 'पदार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति-हेतवः।' 'अनवच्छेदे' का अर्थ है 'तात्पर्य के विषय में संदेह होने पर'। 'विशेषस्मृति' का अर्थ है 'एक मात्र अर्थ की स्मृति'। ऐसा अर्थ करने से 'सुरभिमांस खाता है' इस वाक्य से केवल 'सुगंधित मांस' वाले पक्ष के अर्थ की उपस्थिति होगी। 'गाय' वाले पक्ष के अर्थ की उपस्थिति अभिधा द्वारा न होगी। परंतु उस अर्थ की भी उपस्थिति तो होती है। अतः उस अर्थ के लिये व्यंजना माननी चाहिए। प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति के बाद भी प्रकरणादि-ज्ञान और तात्पर्य-निर्णय इन दो प्रतिबंधकों के उपस्थित रहने के कारण अप्राकरणिक अर्थ की अभिधा द्वारा उपस्थिति नहीं हो पाती। ऐसे स्थलों में प्रकरणादि-ज्ञान और तात्पर्य-निर्णय ये दोनों शब्द द्वारा अन्य सब अर्थों की उपस्थिति में बाधक नहीं होते। यदि ऐसा होता तो व्यंग्यार्थ की भी उपस्थिति न होती। वे केवल अभिधा व्यापार द्वारा अन्य अर्थ की उपस्थिति में प्रतिबंधक होते। अतएव व्यंजना द्वारा द्वितीय अर्थ की उपस्थिति हो जाती है। इसी कारण मम्मटाचार्य ने कहा है—

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्॥[3]

१—रसगंगाधर, काव्यमाला संस्करण, पृष्ठ ११६, सन् १९३०।
२—वही पृष्ठ ११०-१११।
३—काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास।

यहाँ 'यंत्रण' का अर्थ है 'अन्य अर्थ के उपस्थापन का प्रतिबंध।'

प्रथम मत का पंडितराज द्वारा खंडन[२]—वाक्यार्थ-ज्ञान के लिये एकार्थमात्र-विषया पदार्थोपस्थिति को कारण मानना व्यर्थ है। पदों द्वारा अनेक अर्थों की उपस्थिति होने पर भी पश्चात् प्रकरणादि के ज्ञान से प्राप्त तात्पर्य-ज्ञान की सहायता से प्राकरणिक अर्थ विषयक शाब्द बोध पहले हो सकता है। अतः यह कहना कि प्रकरणादि ज्ञानजन्य तात्पर्य-ज्ञान रूप प्रतिबंधक के उपस्थित रहने से पहले से ही अनेकार्थक शब्दों द्वारा एक अर्थ की ही उपस्थिति होती है, इसका कोई प्रमाण नहीं है। अपर अर्थ को उपस्थित करनेवाली पद-ज्ञान रूप सामग्री के रहने से अपर अर्थ की उपस्थिति होनी उचित ही है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकरणादि-ज्ञान अथवा उससे उत्पन्न होनेवाला तात्पर्य-ज्ञान अपर अर्थ की उपस्थिति में प्रतिबंधक हो जाता है। यदि हृदय में शब्द और अर्थ के संबंध का संस्कार वर्तमान है, और उसको उद्बुद्ध करनेवाला पद-ज्ञान भी है, तो अर्थ की स्मृति होनी अनिवार्य है। यह कहना हमें ठीक नहीं जँचता कि 'संस्कार और उसको उद्बुद्ध करनेवाली सामग्री के रहने पर स्मृति अवश्य होती है'—यह नियम अन्यत्र लागू होता है, शब्द और अर्थ के विषय में नहीं। शब्दजन्य स्मृति के विषय में इस प्रकार की विचित्र कल्पना करना निष्फल है। ऐसी कल्पना अनुभव से भी मेल नहीं खाती। अनुभव तो यही कहता है कि दोनों अर्थों की अभिधा द्वारा उपस्थिति होती है।[१] अनुभव का विश्लेषण इस प्रकार है। मान लीजिए, दूध का प्रकरण चल रहा है। इस प्रकरण में किसी ने कहा 'पयो रमणीयम्' अर्थात् 'पय रमणीय है'। इस वाक्य से जिसे प्रकरण का ज्ञान है उसे 'दूध रमणीय है' इस अर्थ की प्रतीति होगी तथा जिसे प्रकरण का ज्ञान नहीं है उसे 'जल रमणीय है' इस अर्थ की उपस्थिति होनी संभव है। ऐसी अवस्था में प्रकरण जाननेवाला व्यक्ति प्रकरण न जाननेवाले को बतलाता है कि यहाँ वक्ता का तात्पर्य दूध से है, जल से नहीं। यह बात प्रकरण जाननेवाला पुरुष कैसे बतलाता है ? आपके अनुसार तो उसे केवल एक ही अर्थ की उपस्थिति होती है। तब वह जल का निषेध कैसे करता है ? उसके द्वारा किए जानेवाले जल के निषेध को देखकर यह प्रतीत होता है कि उसे दोनों अर्थों की प्रतीति हुई थी। अतः यह कहना कि प्रकरणादि का ज्ञान आरंभ से ही द्वितीय अर्थ की उपस्थिति को रोक देता है, ठीक नहीं है[२]।

१—रसगंगाधर—काव्यमाला-संस्करण, सन् १९३० ई०, पृष्ठ ११२-११३।

२—अनुभव के विश्लेषण के आधार पर पंडितराज ने जो उत्तर दिया है वह अपूर्ण सा प्रतीत होता है। वादी यह कह सकता है कि 'पय' शब्द से हमें अभिधा व्यापार द्वारा 'दूध' की तथा व्यंजना व्यापार द्वारा 'जल' की उपस्थिति होती है। इसी के आधार पर हम 'जल' का निषेध करते हैं। इसका उत्तर यहाँ पंडितराज ने कुछ नहीं दिया है। किंतु द्वितीय मत के निराकरण के अवसर पर जो कुछ कहा गया है उसमें इसका उत्तर मिलता है। वह इस प्रकार है—द्वितीय अर्थ की उपस्थिति के लिये व्यंजना का उल्लास अनेकार्थक शब्दस्थल में सर्वत्र होता है या कहीं-कहीं ? यदि सर्वत्र होता है तो द्वितीय अर्थ को, जो नियम से सर्वत्र उपस्थित

द्वितीय मत[1]—जहाँ अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ शाब्द बोध के लिये तात्पर्य-ज्ञान को कारण अवश्य मानना पड़ता है। परंतु उसके आधार पर आरंभ से ही अनेकार्थक शब्दों से केवल एक अर्थ की ही उपस्थिति होती है. यह कल्पना करने की आवश्यकता नहीं। अनेकार्थक शब्दों से प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों की अभिधा द्वारा उपस्थिति होने पर प्रकरणादि ज्ञानजन्य तात्पर्य-निर्णय के आधार पर पहले मुख्य पक्ष के अर्थ का शाब्द बोध माना जा सकता है। ऐसा मानने से एकार्थ-मात्रविषया स्मृति की अपेक्षा नहीं रहती। अन्य अर्थ की उपस्थिति में प्रकरणादि प्रतिबंधक होते हैं, यह कल्पना करने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। इस प्रकार नानार्थक स्थल में प्रकरणादि ज्ञान से प्राप्त तात्पर्य-निर्णय के सहारे प्राकरणिक अर्थ का शाब्द बोध होने पर अप्राकरणिक अर्थ के शाब्द बोध के लिये व्यंजना-व्यापार मानना चाहिए। यहाँ पर नहीं कहा जा सकता कि प्राकरणिक अर्थ का शाब्द बोध हो जाने पर अप्राकरणिक अर्थ का भी शाब्द बोध अभिधा द्वारा ही होता है, क्योंकि अभिधा द्वारा होनेवाले शाब्द बोध में तात्पर्य-ज्ञान कारण होता है। वह प्रकरणादि द्वारा केवल प्राकरणिक अर्थ में ही प्राप्त होता है। अतः अतात्पर्यविषय द्वितीय अर्थ के शाब्द बोध के लिये व्यंजना रूपी दूसरा व्यापार मानना पड़ता है। व्यंजना व्यापार द्वारा होनेवाले शाब्द बोध में तात्पर्य-ज्ञान कारण नहीं होता। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि अनेकार्थक स्थल में प्राकरणिक अर्थ के शाब्द बोध के लिये एकार्थमात्र-विषया स्मृति को कारण न मानें तो प्राचीनों का 'विशेषस्मृतिहेतवः', यह कथन कैसे संगत होगा? तथा प्रकरणादि ज्ञान को द्वितीय अर्थ की उपस्थिति में प्रतिबंधक न मानें तो यह कथन भी कि प्रकरणादि-ज्ञान अनेकार्थक शब्दों की वाचकता का एक अर्थ में नियंत्रण कर देता है, कैसे ठीक होगा? इन दोनों प्रश्नों के विषय में हमारा (द्वितीय मत के समर्थकों का) यह कथन है कि 'विशेषस्मृतिहेतवः' में 'स्मृति' शब्द का अर्थ है 'निश्चय'। 'विशेषस्मृति' का अर्थ है 'विशेषविषयक तात्पर्य-निर्णय'। 'संयोगादिकों द्वारा वाचकता के नियंत्रण' का अर्थ है 'एकार्थमात्रविषयक तात्पर्य-निर्णय द्वारा मुख्य पक्ष के अर्थ के शाब्द बोध के अनुकूल स्थिति उत्पन्न करना'। जो अर्थ अवाच्य है वह अतात्पर्यार्थ होगा। इस प्रकार शब्दों का अर्थ करने से प्राचीनों के कथन की असंगति नहीं रह जाती।

ऊपर जो द्वितीय मत की मीमांसा हुई है उसके संबंध में एक प्रश्न उठता है। पंडितराज ने वह प्रश्न और द्वितीय मत के समर्थक उसका जो उत्तर देते हैं वह भी

होता है और जिसमें शब्द का संकेत भी है, वाच्यार्थ ही कहा जा सकता है। यदि सर्वत्र व्यंजना का उल्लास नहीं होता, केवल ऐसे ही स्थल में होता है जहाँ कोई दूसरा चमत्कार-कारी अर्थ उपस्थित होनेवाला है, तो ऐसे स्थल में एक नवीन व्यंजना व्यापार का उल्लास स्वीकार करने की अपेक्षा उस नियंत्रित अभिधा का ही उल्लास स्वीकार करना अधिक उचित होगा।

१—रसगंगाधर, काव्यमाला-संस्करण, सन् १९३० ई०, पृष्ठ १११-११२।

'रसगंगाधर' में दे दिया है। तदनंतर द्वितीय मत का खंडन आरंभ किया है। हम भी वह सब यहाँ दे देना उचित समझते हैं।

द्वितीय मत में यह कहा गया है कि पहले अनेकार्थक शब्द अभिधा व्यापार द्वारा प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों पक्षों के अर्थों को उपस्थित करते हैं। तदनंतर प्रकरणादि के ज्ञान द्वारा प्राप्त तात्पर्य-निर्णय यह बतलाता है कि इन अर्थों में से अमुक अर्थ प्राकरणिक हैं। इन अर्थों का ही अन्वय होकर पहले प्राकरणिक अर्थ का शाब्द बोध होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि प्राकरणिक पक्ष के अर्थ का शाब्द बोध होने के बाद उन अर्थों का क्या होता है जो अप्राकरणिक पक्ष के होते हैं और जिनको अनेकार्थक शब्दों ने अभिधा व्यापार द्वारा प्राकरणिक पक्ष के अर्थों के साथ ही उपस्थित कर दिया था? प्राकरणिक अर्थ का शाब्द बोध होने के बाद भी वे हमारे स्मृति-पटल पर वर्तमान रहते हैं या विलीन हो जाते हैं? यदि रहते हैं तो पीछे से आनेवाले व्यंजना व्यापार के लिये केवल इतना कार्य रह जाता है कि वह उनका अन्वय करके अप्राकरणिक पक्ष के अर्थ का शाब्द बोध कराए। परंतु यह मानना ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थों का अन्वय कराना व्यंजना का काम नहीं। वह तो केवल द्वितीय पक्ष के पदार्थों की उपस्थिति कराती है। अर्थों का अन्वय करके शाब्द बोध कराना, यह तो तात्पर्यवृत्ति का अथवा आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति का कार्य है। अतः यही मानना होगा कि प्राकरणिक पक्ष का शाब्द बोध होने के बाद अप्राकरणिक पक्ष के अर्थ स्मृति-पटल से विलीन हो जाते हैं। पीछे से व्यंजना-व्यापार आकर पुनः उनकी उपस्थिति कराता है। तब उनका अन्वय होकर अप्राकरणिक पक्ष के अर्थ का शाब्द बोध होता है। यहाँ यह मुख्य प्रश्न उठता है कि पीछे से आया हुआ व्यंजना व्यापार द्वितीय पक्ष के अर्थों की उपस्थिति किसके सहारे करेगा? प्राकरणिक अर्थ का शाब्द बोध कराकर पदज्ञान तो समाप्त हो जाता है और पद-ज्ञान के बिना अर्थ की उपस्थिति हो नहीं सकती। ऐसी अवस्था में प्राकरणिक अर्थ के शाब्द बोध के बाद आनेवाला व्यंजना व्यापार व्यर्थ हो जायगा। द्वितीय अर्थ को व्यंग्यार्थ माननेवालों के पास इस प्रश्न को हल करने का क्या उपाय है?

द्वितीय मत[1] को माननेवाले इस प्रश्न के तीन उत्तर देते हैं[1]। एक दल कहता है कि प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति जिस अभिधा-व्यापार से हुई है वह व्यापार उपस्थित

१—द्वितीय मत के समर्थकों ने व्यंजना-व्यापार द्वारा अर्थ की उपस्थिति के लिये पद-ज्ञान की प्राप्ति की उपपत्ति दिखाने के हेतु जो युक्तियां दी हैं वे बिलकुल निर्बल हैं।

प्रथम दल का कहना कि प्रथम अर्थ को उपस्थित करनेवाला अभिधा-व्यापार उपस्थित रहता है और उसके संबंध से पद-ज्ञान भी रहता है, यह कोरी कल्पना है। वस्तुतः प्रथम अर्थ को उपस्थित करके अभिधा-व्यापार विलीन हो जाता है। कार्य की उत्पत्ति के बाद व्यापार नहीं रहता। जब व्यापार नहीं रहता तब उसके संबंध से पद-ज्ञान के रहने की बात ही दूर रही।

द्वितीय दल का यह कहना कि शक्यार्थ में शक्यतावच्छेदक की तरह पद का भी विशेषणतया भान होता है, यह भी कल्पना मात्र है। अर्थ में पद का ज्ञान नहीं होता। 'पुस्तक लाओ'

ही है। उसके संबंध से एक प्रकार से पद-ज्ञान भी उपस्थित ही है। उसी के सहारे व्यंजना-व्यापार द्वितीय अर्थ की उपस्थिति कर देगा। दूसरा दल कहता है कि मुख्यार्थ की प्रतीति के बाद पद-ज्ञान चाहे न रहे पर पदों से प्राप्त शक्यार्थ (वाच्यार्थ) तो रहता ही है। उस शक्यार्थ में शक्यतावच्छेदक (शक्यार्थ का अन्य अर्थों से भेद करानेवाला धर्म) की तरह पद का भी विशेषणतया भान होता है। इस प्रकार विशेषणतया पद भी उपस्थित है। व्यंजना उसी से द्वितीय पक्ष के अर्थों की उपस्थिति करा देगी। तीसरा दल कहता है कि आवृत्ति करके पुनः उन पदों को उपस्थित कर लिया जा सकता है। इस प्रकार आवृत्ति द्वारा पुनः उपस्थित पदों से व्यंजना अप्राकरणिक पक्ष के अर्थों की उपस्थिति करा देगी। उनका अन्वय कर द्वितीय पक्ष के अर्थ का शाब्द बोध हो जायगा।

पंडितराज द्वारा द्वितीय मत का खंडन

यह कहा जाता है कि प्रकरणादि-ज्ञान से प्राकरणिक अर्थ में तात्पर्य-विषयता का निर्णय होने पर पहले प्राकरणिक अर्थ का शाब्द बोध होता है। तदनंतर व्यंजना-व्यापार द्वारा अतात्पर्य-विषयीभूत अर्थ का बोध होता है। यहाँ हमारा यह प्रश्न है कि क्या नानार्थ स्थल में सर्वत्र ही व्यंजना का उल्लास होता है अथवा कहीं कहीं। पहला कल्प तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि नानार्थ स्थल में प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों की सर्वत्र उपस्थिति के कारण तात्पर्य ज्ञान के कारण।

यह वाक्य सुनने पर जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसमें जिन शब्दों से वह अर्थ निकलता है वे शब्द भी सर्वदा सबको विशेषणतया प्रतीत होते हैं, यह बात अनुभव में नहीं बैठती। पीछे विशेष विचार करने पर जब यह ज्ञात होता है कि यह अर्थ इन शब्दों से निकला है तब अर्थ में वे शब्द विशेषणतया प्रतीत होते हैं। यदि मान भी लिया जाय कि अर्थ में शब्द विशेषणतया प्रतीत होते हैं तो भी विशेषणतया प्रतीत होनेवाले शब्द वह काम नहीं कर सकते जो काम स्वरूपतया प्रतीत होनेवाले शब्द कर सकते हैं। शब्द स्वरूपतया प्रतीत होकर ही अर्थ की उपस्थिति कर सकता है।

तीसरे दल का यह कहना कि आवृत्ति द्वारा पुनः पद ज्ञान प्राप्त हो सकता है, यह तो व्यंजना को बिलकुल व्यर्थ कर देता है, क्योंकि दूसरी बार आया हुआ शब्द अपने साथ अपनी अभिधा शक्ति को भी लेता आएगा। उसी दूसरी अभिधा शक्ति से दूसरे अर्थ की उपस्थिति हो जायगी। वहाँ व्यंजना का क्या काम ?

वस्तुतः अनेकार्थक स्थल में सर्वत्र एक रूपवाले दो शब्दों का एक साथ उच्चारण होता है। दोनों शब्द एक रूप में सामने आते हैं। दोनों अपनी अपनी अभिधा शक्ति द्वारा दोनों पक्ष के अर्थों को उपस्थित करते हैं। तदनंतर प्रकरणादि-ज्ञान द्वारा प्राप्त तात्पर्य निर्णय यह बतलाता है कि कौन अर्थ प्राकरणिक और कौन अप्राकरणिक है। इसके बाद पहले प्राकरणिक पक्ष के अर्थ का, अनंतर अप्राकरणिक पक्ष के अर्थ का शाब्द बोध होता है। दोनों अर्थ 'वाच्यार्थ' ही होते हैं। यही स्पष्ट दिखाई देता है।

की कल्पना व्यर्थ हो जायगी। यदि यह कहा जाय कि दोनों अर्थों में से, कौन सा अर्थ अभिधा द्वारा तथा कौन सा व्यंजना द्वारा उपस्थित हुआ है तो इस बात का निर्णय करने के लिये तथा व्यंजना द्वारा उपस्थापित अर्थ के स्थान में कहीं अभिधा द्वारा उपस्थापित अर्थ न आ जाय, इस अव्यवस्था को रोकने के लिये प्राकरणिक अर्थ-विषयक शाब्द बोध में तात्पर्य-ज्ञान को कारण मानना पड़ता है। ऐसी स्थिति में हमारा कहना यह है कि यदि नानार्थ स्थल में द्वितीय अर्थ सर्वत्र ही उपस्थित होता हो तो उसे भी वाच्यार्थ ही मान लिया जाय, यह भी ठीक ही होगा। यदि कहा जाय कि अनेकार्थक शब्दों द्वारा दोनों अर्थों की उपस्थिति के बाद प्रकरणादि द्वारा जिस अर्थ में तात्पर्य-निर्णय होता है उसी अर्थ की उपस्थिति पहले होती है, दूसरे अर्थ की नहीं, तो इस नियम की रक्षा करने के लिये अभिधा-व्यापार द्वारा उपस्थित किए जानेवाले प्राकरणिक अर्थविषयक शाब्द बोध में तात्पर्य-निर्णय को हेतु मानना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाय तो तात्पर्य विषयतया निर्णीत अर्थ की तरह अतात्पर्यविषयक अर्थ का भी शाब्द बोध पहले हो जायगा। परंतु ऐसा नहीं होता। तात्पर्यविषयक अर्थ का शाब्द बोध होने के बाद ही अतात्पर्यविषयक अर्थ का शाब्द बोध होता है। द्वितीय अर्थ का हम शाब्द बोध मानते हैं, मानस-बोध नहीं। अतः दोनों अर्थों का एक दूसरे से भेद करने के लिये कुछ विशेषण देना आवश्यक है। इसी लिये हम प्रथम अर्थ को वाच्यार्थ कहते हैं और द्वितीय को व्यंग्यार्थ। वादी का यह सब कहना व्यर्थ है। जिस प्रकार श्लेषस्थल में दोनों अर्थों की उपस्थिति होती है उसी प्रकार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि-स्थल में भी दोनों अर्थों की उपस्थिति मानी जाय, यह अनुचित न होगा। इस कथन में भी कोई अर्थ नहीं है कि श्लेष-स्थल में तो दोनों अर्थों में तात्पर्य-ज्ञान होता है, शब्दशक्तिमूलक ध्वनि-स्थल में तो एक ही अर्थ में; क्योंकि वाच्यार्थ-विषयक शाब्द बोध में तात्पर्य-ज्ञान कारण नहीं होता। यदि तात्पर्य-ज्ञान की कारणा वाच्यार्थ-विषयक शाब्द बोध में सिद्ध हो जाय तो यह माना जा सकता है कि ध्वनि-स्थल में द्वितीय अर्थ व्यंग्य है। परंतु यह सिद्ध करने में वादी सफल नहीं हुए हैं। अतः वाच्यार्थ-विषयक शाब्द बोध में तात्पर्य-ज्ञान की कारणता का मत शिथिल होने के कारण शब्दशक्ति मूलक ध्वनि-स्थल में द्वितीय अर्थ के लिये व्यंजना मानना अनुचित है। वहाँ दोनों अर्थ वाच्यार्थ ही होते हैं।

यदि वादी द्वितीय कल्प मानें और कहें कि अनेकार्थक स्थल में व्यंजना का उल्लास सर्वत्र नहीं होता, केवल ऐसे ही स्थल में होता है जहाँ व्यंग्यार्थ में कवि का तात्पर्य प्रतीत होता है, तो यह भी अनुचित ही होगा, क्योंकि व्यंग्यार्थ-प्रतीति में तात्पर्य-ज्ञान को कारण तो वादी भी नहीं मानता। प्रथम कल्प पर विचार करते समय वादी ने जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट है। काव्य में जहाँ अश्लीलता-प्रयुक्त दोष होता है वहाँ अप्राकरणिक अश्लील अर्थ की प्रतीति सब को होती है। परंतु उससे कवि का तात्पर्य नहीं होता। अतः कवि-तात्पर्य के आधार पर कहीं कहीं व्यंजना का उल्लास मानना अनुचित है; क्योंकि ऐसा मानने के लिये कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। व्यंग्यार्थ-विषयक कवि-तात्पर्य-ज्ञान जहाँ हो

वहीं व्यंजना होती है, अन्यत्र नहीं, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में तात्पर्य-ज्ञान को कोई भी कारण नहीं मानते। काव्य में जहाँ अश्लीलत्व-प्रयुक्त दोष होता है वहाँ अश्लीलार्थ-रूपी अप्रकरणिक अर्थ में कवि का तात्पर्य नहीं होता, तथापि उसकी प्रतीति होती है। अनेकार्थक शब्द-स्थल में कहीं कहीं व्यंजना का उल्लास माननेवालों के पास इसकी क्या उपपत्ति है? यदि कवि का तात्पर्य-ज्ञान नहीं तो श्रोता का ही द्वितीय अर्थ में शक्ति-ग्रह व्यंजना के उल्लास का हेतु माना जा सकता है यह कहना ठीक नहीं है। चमत्कार-जनक द्वितीय अर्थ की प्रतीति के लिये श्रोता की शक्ति-विशेष को व्यंजना के उल्लास में हेतु मानने की अपेक्षा उसे नियंत्रित अभिधा शक्ति के ही उल्लास में हेतु मानना अधिक अच्छा जान पड़ता है। शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि-स्थल में प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों की प्रतीति उसी को होती है जिसे शब्दों के दोनों अर्थों के संकेतग्रह का ज्ञान है। जिसे दोनों अर्थों के संकेत-ग्रहों का ज्ञान नहीं है अथवा जो द्वितीय अर्थ में संकेत भूल गया है उसे अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। यह अप्राकरणिक अर्थ का वाच्यार्थ होना ही सिद्ध करता है। यदि यह कहा जाय कि व्यंग्यार्थ-विषयक शक्तिग्रह ही व्यंजना के उल्लास का हेतु है तो यह भी ठीक नहीं जान पड़ता; क्योंकि 'निःशेषच्युतचंदन' इत्यादि स्थलों में 'रमण' रूप अर्थ में 'अधम' पद का संकेतग्रह न होने पर भी 'अधम' पद से उसकी व्यंजना होती है। यदि इस उदाहरण को आर्थी व्यंजना का उदाहरण समझकर छोड़ दिया जाय तो भी शाब्दी व्यंजना के स्थल में शब्द संकेतित अप्राकरणिक अर्थ को व्यंजना-व्यापार द्वारा उपस्थित करते हैं, इस प्रकार के विचित्र कार्य-कारण भाव का मानना ठीक नहीं होगा। इसी नवीन कार्य-कारण भाव की कल्पना करने की अपेक्षा शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक-भाव संबंध मानना ही ठीक है। इस संबंध में एक और बात विचारणीय है। किन्हीं विद्वानों का कथन है कि हम अप्राकरणिक अर्थ को भी वाच्यार्थ मानते हैं। किंतु हम उसे ऐसी ही अवस्था में मानते हैं जब वह बाधित न हो। जब अप्राकरणिक अर्थ बाधित रहता है तब हम उसे व्यंग्यार्थ ही मानते हैं। जैसे—'जैमिनीयमलं धत्ते रसायनमयं द्विजः'[1] यहाँ जुगुप्सित अर्थ 'वह्निना सिञ्चति'[2] इस वाक्य के अर्थ की तरह बाधित होने के कारण वाच्यार्थ नहीं हो सकता। यह तो

१—प्राकरणिक अर्थ—यह ब्राह्मण जैमिनि मुनि प्रोक्त मीमांसा शास्त्र को रसायन की भाँति स्वीकार करता है।

अप्राकरणिक अर्थ—यह ब्राह्मण जैमिनि मुनि के मल को रसायन की तरह धारण करता है।

यहाँ वादी का कहना यह है कि अप्राकरणिक अर्थ प्रमाणांतर से बाधित होने के कारण वाच्यार्थ नहीं हो सकता।

२—अर्थ—आग से सींचता है। जो लोग आकांक्षा और आसत्ति की तरह 'योग्यता' को भी वाक्यार्थ ज्ञान में कारण मानते हैं उनके मत से इस वाक्य से शाब्द-बोध नहीं होता; क्योंकि इसका अर्थ बाधित है।

सभी मानते हैं कि बाध-निश्चय तद्वत्ता ज्ञान के प्रति प्रतिबंधक होता है। व्यंजना तो बाधित अर्थ का भी बोध करा सकती है। वादी के ये सभी तर्क व्यर्थ हैं। 'गामवतीर्णा सत्यं सरस्वतीयं पतञ्जलिव्याजात्'[1] तथा 'सौधानां नगरस्यास्य मिलन्त्यर्केण मौलयः'[2] इन वाक्यों में भी तो वाच्यार्थ बाधित है, तथापि इनका वाच्यार्थ-विषयक शाब्द बोध होता है। जिस प्रक्रिया से इन वाक्यों का वाच्यार्थ-विषयक शाब्द-बोध होता है उसी प्रक्रिया से 'जैमिनीयमलं' इत्यादि वाक्य के भी बाधित अर्थ का बोध हो जायगा। यदि ऐसा न माना जाय तो सभी अलंकारों के वाच्यार्थ की उपपत्ति के लिये व्यंजना माननी पड़ेगी। अतः नानार्थ स्थल में अप्राकरणिक अर्थ के लिये व्यंजना माननी चाहिए, यह कथन निरर्थक है।

इस प्रकार पंडितराज ने अनेकार्थक स्थल में अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति के लिये व्यंजना माननेवालों का खंडन किया है[3]। आगे चलकर प्राचीन आलंकारिकों की प्रतिष्ठा बचा रखने के लिये गौण रूप से अप्राकरणिक अर्थ को भी व्यंग्यार्थ मानने के लिये उन्होंने अपनी संमति दे दी। परंतु यह संमति उसी स्थान के लिये है जहाँ अप्राकरणिक अर्थ के साथ अलंकार भी व्यक्त हो। जहाँ केवल वस्तु रूप अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होती है वहाँ उसे व्यंग्य मानना गौण समझते हैं। यहाँ पंडितराज ने जो कुछ कहा है वह ध्वनिकार की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये ही, ऐसा प्रतीत होता है। ध्वनिकार ने शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि-स्थल में अप्राकरणिक अर्थ के साथ अलंकार की व्यंजना अनिवार्य मानी है। मम्मटाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में ऐसे स्थल में अलंकाररहित केवल वस्तु-रूप व्यंग्यार्थ की सत्ता स्वीकार की है। अभिनवगुप्ताचार्य ने इस ओर पहले ही संकेत कर दिया था। पंडितराज इस मत को शिथिल समझते हैं।

'रसगंगाधर'[4] से ज्ञात होता है कि पंडितराज उन्हीं स्थलों में अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्यार्थ नहीं मानते जहाँ रूढ़ अथवा यौगिक शब्दों का प्रयोग होता है। जहाँ योगरूढ़ अथवा यौगिक-रूढ़ शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ तो वे भी अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्यार्थ मानते हैं। उनका कहना है कि जहाँ योगरूढ़ शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ रूढ़ि-शक्ति योग-शक्ति को दबा देती है। अतः रूढ़ि-शक्ति के द्वारा प्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होने पर अवयवलभ्य अर्थ की प्रतीति व्यंजना-व्यापार के बिना हो नहीं सकती। इसलिये अवयवलभ्य अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्यार्थ मानना चाहिए। उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिये निम्नलिखित संग्रह श्लोक उद्धृत किया है—

१—अर्थ—सचमुच पतंजलि के रूप में सरस्वती ही पृथ्वी पर उतर आई है।

२—अर्थ—इस नगर के भवनों के शिखर सूर्य से मिल रहे हैं।

३—रसगंगाधर, काव्यमाला-संस्करण, पृष्ठ ११८, सन् १९३० ई०।

४—पृष्ठ ११६।

योगरूढस्य शब्दस्य योगे रूढ्या नियन्त्रिते।
धियं योगस्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥

अर्थ—योगरूढ़ शब्दों की योग-शक्ति के रूढ़ि-शक्ति के द्वारा नियंत्रण हो जाने पर अवयवलभ्य अर्थ का ज्ञान व्यंजना ही कराती है।

पंडितराज का यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। इस सिद्धांत को मानने का परिणाम यह होगा कि योगरूढ़ि स्थल में सर्वत्र प्राकरणिक अर्थ को अवयवलभ्य मानना पड़ेगा। परंतु यह बात तो सर्वत्र देखने में नहीं आती। कहीं कहीं अवयवलभ्य अर्थ प्राकरणिक और रूढ़िलभ्य अर्थ अप्राकरणिक दिखाई देता है। ऐसे स्थलों में तो पंडितराज की सारी व्यवस्था ही उलट जायगी। पंडितराज के सिद्धांत के अनुसार ऐसे स्थलों में प्राकरणिक अर्थ व्यंग्यार्थ और अप्राकरणिक अर्थ वाच्यार्थ पड़ जायगा; परंतु ऐसा तो कोई नहीं मानता। अपना पुराना उदाहरण 'अत्रान्तरे कुसुमसमययुगं' इत्यादि ही लीजिए। यहाँ 'महाकाल' शब्द का देवता-विशेषरूपी रूढ़िलभ्य अर्थ अप्राकरणिक और महाऋतु-रूपी अवयवलभ्य अर्थ प्राकरणिक है। यहाँ यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्राकरणिक अर्थ व्यंग्यार्थ और अप्राकरणिक अर्थ वाच्यार्थ है। इस कठिनाई को देख यही कहना पड़ता है कि इस विषय में पंडितराज का मत मान्य नहीं है।

कवींद्राचार्य सरस्वती

[श्रीगोपाल दामोदर तामस्कर]

कवींद्राचार्य सरस्वती के संबंध में मुझे पहले पहल जो कुछ वृत्तांत मालूम हुआ वह 'मिश्रबंधु-विनोद' से। इस ग्रंथ में इस विद्वद्रत्न का निम्नलिखित परिचय दिया है—

इन महाशय ने शाहजहाँ बादशाह देहली की प्रशंसा में "कवींद्र-कल्पलता" नामक ग्रंथ बनाया, जिसमें कुल १५० छंदों द्वारा उक्त बादशाह व उसके पुत्रों इत्यादि की प्रशंसा की गई है। शाहजहाँ का समय सं० १६८३ से १७१४ तक है। इसी के बीच में यह ग्रंथ बना होगा। संभवतः कविजी का जन्मकाल सं० १६५० के लगभग होगा। सं० १६८७ में 'समरसार' नामक इनका द्वितीय ग्रंथ बना। इस विचार से ये महाशय तुलसीदासजी के समकालिक ठहरते हैं। 'सरोज' में इनका समय सं० १६२२ दिया हुआ है, जब शायद शाहजहाँ वा इनका स्वयं जन्म भी न हुआ हो। ये महाराज संस्कृत के भी पूर्ण विद्वान् थे। इनकी सानुप्रास भाषा में व्रज और अवध की बोलियों का कुछ कुछ मिश्रण है और वह ललित है।

इन्होंने संस्कृत की भी अच्छी कविता की है। 'योग-वाशिष्ठसार' नामक इनका एक और ग्रंथ खोज में मिला है। ये काशीवासी थे।[1]

इनकी कविता का उदाहरण यह दिया है—

मंदिर ते ऊँचे मनि-मंदिर ए सुंदर हैं,
मेदिनी पुरंदर को पुर दरसत है।
हिय में हुलास होत नगर बिलास लखि,
रूप कयलास हू ते अति सरसत है॥
दुंदुभि मृदंग नाद विविध सुबाद जहाँ
साहिजहाँबाद अति सुख बरसत है।
छहौ ऋतु छाई, छाजै आछी छवि, देखन को
मानुष की कहा कहै इंद्र तरसत है॥[1]

इस वृत्तांत से उस समय कुछ विशेष कुतूहल न उत्पन्न हुआ। परंतु जब 'शिवभारत' नामक शिवाजी का संस्कृत भाषा का जीवन-चरित मैंने पढ़ा तब कवींद्राचार्य सरस्वती के संबंध में बहुत जिज्ञासा उत्पन्न हुई। कवींद्राचार्य सरस्वती बहुत बड़े विद्वान् थे, बनारस के रहनेवाले थे, हिंदी जानते थे और उन्होंने कई ग्रंथ लिखे थे। 'शिवभारत' के रचयिता परमानंद गोविंद भी 'कवींद्र' ही थे; बनारस के रहनेवाले थे,

१. द्वितीय भाग, पृष्ठ ४०४-४०५, द्वितीय संस्करण।

बहुत बड़े विद्वान् थे। इन सामान्य बातों को देखकर मुझे उसी समय यह शंका हुई कि परमानंद गोविंद कवींद्र ही कवींद्राचार्य सरस्वती थे। मैंने अपनी यह शंका 'केसरी'[1] में प्रकाशित भी की थी। तदनंतर मुझे अपनी शंका दृढ़ करने के लिये अधिकाधिक सामग्री मिलती गई।

कवींद्राचार्य सरस्वती का यह विशेष परिचय मैंने 'कवींद्र-चंद्रोदय' नामक संस्कृत के अभिनंदनात्मक संग्रह के आधार पर लिखा है। संभवतः सन् १६३२ ई० में शाहजहाँ ने हिंदू तीर्थस्थानों के यात्रियों पर कर लगाया। कवींद्राचार्य सरस्वती शाहजहाँ के दरबार में रहते थे और दाराशिकोह के गुरु थे। इस कथन के समर्थन के लिये निम्नलिखित उद्धरणों[2] को हम दिए देते हैं—

येन श्रीसाहिजाहाँ नरपति तिलकःस्वस्य वश्यः कृतोऽभूत्
किं चावश्यं प्रपन्नः पुनरपि विहितः साहिदाराशकोहः।
काशी-तीर्थ प्रयाग-प्रतिजनितकरग्राहमोक्षैकहेतुः
सोऽयं श्रीमान् कवीन्द्रो जयति कविगुरुस्तीर्थराजाधिराजः ॥१६९।

दिक्पालाः स्वसमीहितं हि भवतः प्रापुः कवींद्र प्रभो
विद्वांसोऽपि समागता बहुविधा ब्रह्मांडभूगोलकात्।
भूपालाः कति नागतास्तव गृहे किं वर्णयामो वयम्
दिल्लीशो यवनाधिपो नरवरो भाग्योदयं वाञ्छति ॥५९॥

अधिगतनृपमानः प्राप्तविद्याभिमान-
स्त्रिदशगुरुसमानः साधितोच्चैः समानः।
कृतविविधविधानः प्राप्तविद्वद्विधानः
स जयति गुणधानः श्री कवींद्राभिधानः ॥१५४॥

दिक्कालयोर्व्योम्नि तयात्मपुञ्जे
यद्वैभवं वाचनिकं तदस्ति।
प्रत्यक्षगम्यं तु भवत् प्रभुत्वं
कवींद्र ! दिल्लीपतिपूज्यपाद ! ॥२१६॥

दिल्लीश्वराय निगमागमशास्त्रबुद्ध्या
संबोधयन् प्रतिदिनं त्रिजगत्कवींद्रः।
श्रीतीर्थराजकरमोचनलब्धकीर्ति-
र्विद्यानिधानमहिमा नहि मानगम्यः ॥११५॥

यः साक्षाद्गजराजलब्धमहिमा प्राप्तः प्रतिष्ठां पुन-
र्देवत्वं निजशारदातनुलसल्लेमे कवींद्रः प्रभुः।
श्रीविश्वेश्वरकाशिकासुरनदीतीरे सुवर्णं ददौ
श्रीमत्साहिजहाँदिलीप-कृपया विद्यानिधानाभिधः ॥११६॥

१—८ दिसंबर, सन् १९४० ई०। २—ये सभी उद्धरण कवींद्र-चंद्रोदय से संगृहीत हैं।

गीयंते कीर्तयस्ते विविधमतियुतैः पण्डितैः सत्सभायां
शुद्धानंदस्वरूपो निखिलगुणनिधिर्ज्ञानकारुण्यसिंधुः
विद्वद्वृंदाभिवंद्यः सुरगुरुसदृशः पुण्यलावण्ययुक्तः
श्रीमान्धीमान्कवींद्रो जयति परमुदे प्रत्यहं द्वारि साहेः ॥२२२॥
सततवसुमतीपालमौलिहीराङ्कुरैर्नीराजितचरणसरोजं[1] ।
धर्मं धर्मधनं धनंजयमथो शौर्येण सर्वोत्तमम्
भीमं भीमबलं च कर्णमसमं दाने स्मरं देहिनम् ।
द्रष्टुं वाञ्छसि चेत्तदा बुधवरं दिल्लीपुरं सादरम्
गत्वा विज्ञ कवींद्रवर्यविबुधं दृष्ट्वा सुखी त्वं भव ॥२७५॥
दृढं योऽत्र दिल्लीपतिप्रीतिपात्रं मुहुः स्वर्धुनीस्नानसंशुद्धगात्रः ।
पवित्रः परित्रातसत्पात्रमात्रो विनिद्रोऽस्मि संवित्कवींद्रः ॥३२२॥
दिल्लीपप्रीतिकारी विबुधवर विधुप्रीतिधारी कवीन्द्रः[2] ॥१८॥

संभवतः सन् १६५० के बाद और सन् १६५७ ई० के पहले ये दिग्गज पंडित कई अन्य पंडितों को लेकर शाहजहाँ के दरबार में यात्री-कर क्षमा कराने के हेतु पहुँचे। उन्होंने वहाँ उपस्थित अनेक देशों[3] के विद्वानों के सामने अपने उद्देश्य के पक्ष में ऐसे वाद किए कि शाहजहाँ ने वह कर प्रयाग और काशी में और कदाचित् अन्य स्थानों में भी क्षमा कर दिया—

अमुना चिन्तितविभुना कर-निर्मोक्षात्कवीन्द्र सुप्रभुणा ।
काशी-प्रयाग-संस्थः सुस्थः सर्वोजनोऽपकारि ॥१५॥
येन श्रीसाहिजाहाँ नरपतितिलकः स्वस्य वश्यः कृतोऽभूत्
किं चावश्यं प्रसन्नः पुनरपि विहितः साहिदाराशकोहः ।
काशी-तीर्थ-प्रयाग-प्रतिजनितकर-ग्राहमोक्षैकहेतुः
सोऽयं श्रीमान् कवीन्द्रो जयति कविगुरुस्तीर्थराजाधिराजः[4] ॥१६९॥
पृथ्वीशार्ककरेण दुःसहतरेणावग्रहात्तं नृणां
दृष्टादृष्टफलप्रदं सुकृतिनां क्षेत्रं प्रयागादिकम् ।
सूक्त्यैवामृतधारया प्रशमयन् योऽमूमुचच्चैद्दघणां

१—वही, महादेवभट्ट पटवर्धन, पृष्ठ ।

२—वही, परिशिष्ट ।

३—काश्मीरैराककारस्करदरदखुरासानहब्शानजाता
वङ्गारब्बाः फिरङ्गास्तुरुक शकबदक्शान मुल्तान बल्काः ।
खादाराः काबिलेंद्रा अपि धरणिभृतस्ते नगा रूमशामाः
श्रीमच्छ्री शाहिजाहा नरपतिसदसि त्वां कवींद्र स्तुवन्ति ॥१७०॥

४—वही, हरिराम कृत ।

कुर्वन् सुग्रहसत्फलं जयति
तच्छ्रीमान् कवीन्द्रो बुधः ॥६३॥

इस अवसर पर भारतवर्ष के हिंदू-संसार में अतीव आनंद हुआ और चारों ओर के विद्वानों ने कवींद्राचार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और स्वयं शाहजहाँ ने इस विद्वान् को "सर्वविद्यानिधान" की पदवी दी—

कामाक्षाप्रथमप्रयाणसमये विद्यानिधानप्रभो-
रिन्द्रत्वं तव मस्तके कृतवती श्रीसाहिजाहामुखात्[1] ॥११८॥

संपादकों ने 'कामाक्षा' शब्द को 'प्रथमप्रयाणसमये' से जोड़ दिया है और 'श्रीसाहिजाहामुखात्' के 'श्री' के स्थान में कर्ता के लिये 'श्रीः' सुझाया है। पर यह ठीक नहीं मालूम होता। 'कामाक्षा' शब्द ही 'कृतवती' का कर्ता है। दुर्गा देवी ही उनकी कुल-देवता थी। इसका विचार यथास्थान किया है।

श्रीमत्काशिविकाशिभिः सुकविभिस्तद्वत्प्रयागासिभिः-
र्नानादेशनिवासिभिश्च रचिता विद्यागणोल्लासिभिः।
श्रीकृष्णेन सरस्वतीपदयुताऽऽचार्योपनामाश्रित-
श्रीविद्यानिधिसत्कवींद्रविषया पद्यावली लिख्यते ॥९॥

इस विद्वान् की स्तुति करने में तत्कालीन विद्वानों और कवियों ने अपनी कल्पना-शक्ति का भरपूर उपयोग किया है। 'सर्वविद्यानिधान' पदवी द्वारा कवींद्राचार्य की विद्या का पूरा पता लग जाता है। कई अभिनंदन-कर्ताओं ने उन्हें विष्णु का अवतार भी कहा है—

म्लेच्छाम्भोनिधिमग्नहैन्दववृषोद्धाराय नारायणः
साक्षादेष समस्तलोककृपया पूर्णोऽवतीर्णो भुवि ॥८३॥
भट्टो नारायणः साक्षात् पुरासीच्छंकरः शिवः।
तथैवात्र स्वयं कृष्णः कवीन्द्रस्वामिदण्डधृक् ॥१२३॥

इसका अर्थ यह हुआ कि नारायण भट्ट ही कवींद्र थे, जो संन्यासी हुए; वे शंकर के समान उपकारी थे और सब का उपकार करते थे। अब वे कृष्ण के समान सबको वेदांत सिखाते हैं। उपर्युक्त १२३ वें श्लोक का यही अर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं। ऐसा न होने पर किस प्रकार कहा जा सकता है कि वे पहले 'शंकर शिव' थे, बाद में वे ही कृष्ण हुए। एक ही जीवन में एक आश्रम के न तो दो नाम हो सकते हैं और न दो अवतारों की कल्पना की जा सकती है। शिव अर्थात् उपकारी शंकर और कृष्ण अर्थात् वेदांत की शिक्षा देनेवाले कृष्ण ही अभिप्रेत हो सकते हैं।

१—वही, पूर्णानंद ब्रह्मचारी। २—वही।
३—विद्यासुधाकर श्रीहरदत्त शर्मा, एम्० ए०, पी० एच० डी० तथा श्री एम्० ए० पाटकर बी० ए० संपादित, ओरियंटल सिरीज ६०, ओरियंटल बुक एजेंसी पूना, सन् १९३९ ई०।

नानाज्ञानपटावृतैर्विषयिभिर्निष्कारणैरिन्द्रियैः
पर्णैरप्यभिधीयते विषयिणां श्रीवासुदेवः प्रभुः ।
एष ब्रह्मसनातनः स पुरुषो धाता विधाता विभु-
र्व्यक्ताव्यक्तशरीरवान् विजयते श्रीमान् कवीन्द्रो यतिः ॥१३॥

हनूमान् भयनाशाय करतापनिवारणो ।
सुधांशू रामभद्रोऽपि कवीन्द्रस्वामिशंकरः ॥१२५॥

कलौ युगे किलायाते धर्मो ध्वंसं ध्रुवं दधे ।
कवीन्द्ररूपो भगवानाविर्भूतः स्वयं विभुः[1] ॥१९२॥

यस्तावद्दशकृत्व इत्यवतरद्धर्मो विलीयेत मा
स्वात्मानं विनियुक्तवानथ पुनस्तद्रक्षणायाधुना ।
त्वां सर्वोपकृतो कवीन्द्र कृतवान् सत्यप्रतिज्ञं तथा
दौर्जन्यार्णवमग्नसज्जनसमुद्धाराय नारायणः[2] ॥१॥

विद्या श्रीः कीर्तितुष्टी धृतिरतिशयिता ह्रीश्च धर्मैकसीमा
श्रेयः सत्त्वप्रधानं दधति हि मतुपं यं समासाद्य चाद्य ।
तस्मिञ्श्रीमत्कवीन्द्रे गुणिगणनारम्भसंख्यायमाने
मिश्रश्रीकेशवस्यानतिरतिगणितासंमदव्यूहदास्तु[3] ॥६५॥

इन स्तुतियों से यह प्रकट है कि उस समय के भारतीय विद्वानों में कवींद्राचार्य सरस्वती अग्रगण्य थे ।

आपके मूल निवास-स्थान तथा शिक्षा-दीक्षा के विषय में जो कुछ ज्ञान हमें प्राप्त हो सका है वह मुख्यतया इसी 'कवींद्रचंद्रोदय' से । इसमें प्रारंभ में ही श्रीकृष्ण उपाध्याय ने लिखा है—

विद्यानुकृतफणीन्द्रो विजितयतीन्द्रो मतीन्द्रो यः
स्ववशीकृतपृथिवीन्द्रो जयति कवीन्द्रो पतिर्जगति ॥३॥
गोदातीरनिवासी पश्चाद्येनाश्रिता काशी ।
ऋग्वेदीयाभ्यस्ता साङ्गा शाखाश्वलायनी शस्ता ॥४॥
निःस्पृहता विषयेभ्यः परनिज जनताभिमानेभ्यः ।
प्राप्ता शैशवसमये विश्वेशानुग्रहाद्धृदये ॥५॥
लघुवयसा गततमसा सत्त्वाधिक्यादभिद्रवद्रजसा ।
येन च विद्या तरसा तपसा सर्वा वशीकृतैव रसा ॥६॥
बुद्ध्वा विबुधाधिकतां दत्ता यस्मै कवीन्द्र सत्पदवी
यवनकरग्रहणाब्धौ मग्ना येनोद्धृता पृथिवी ॥७॥
विजितमहीतलतस्मै दत्तं विद्यानिधान पदमस्मै ।
आचार्याह्वयसहितं यतिबुधवृन्दैर्महीतले महितम् ॥८॥

१—कवींद्रचंद्रोदय । २—वही, परिशिष्ट । ३—वही ।

विचार्याचार्यसादृश्यं सर्वैरानन्दकाशने ।
आचार्यपदवी दत्ता कवीन्द्राय महात्मने[१] ॥१६॥

इन पद्यों का सार यह है कि कवींद्राचार्य सरस्वती का मूल निवास-स्थान गोदावरी के किनारे था। बाद में वे काशी जाकर रहने लगे। आपने 'ऋग्वेद' का अभ्यास किया था और आश्वलायन शाखा और उसके अंगों पर अधिकार रखते थे। अनेक अन्य विद्याओं का भी आपने अभ्यास किया था। विश्वेश की कृपा से सांसारिक विषयों से तथा पर और निज लोगों के अभिमान से इन्हें शैशव-काल में ही विरक्ति उत्पन्न हो गई थी। आपकी विद्या देखकर विद्वानों ने आपको पहले 'कवींद्र' पदवी दी, और बाद में 'आचार्य' पदवी। आपने पृथिवी (भारतवर्ष, वास्तव में प्रयाग और काशी) को यवन-कर से मुक्त किया। इस समय आपको 'विद्यानिधान' पदवी प्राप्त हुई[२]।

इससे पहले 'सरस्वती' पदवी भी प्राप्त हुई थी।

आपने 'कवींद्रकल्पद्रुम' नामक एक और ग्रंथ लिखा है। यह अभी छपा नहीं है। इसकी पांडुलिपि लंदन के 'इंडिया आफिस' में रखी है। इसमें कवींद्र का परिचय यों दिया है--

गोदातीरे प्रमोदावलिवलिततमे जन्मभाक् पुण्यभूमा
ऋग्वेदी वेदवेदी जगति विजयते श्रीकवींद्रो द्विजेन्द्रः ॥
अधीत्य वेदवेदाङ्गा काव्यशास्त्राणि सर्वशः ।
ततः स्वीकृत्य संन्यासं ब्रह्माभ्यासं समाश्रितः[३] ॥

इस परिचय में दो बातें विशेष हैं। एक यह है कि कवींद्राचार्य का जन्म-स्थान गोदावरी के किनारे कोई तीर्थक्षेत्र–पुण्यभूमि–था। प्रमोदावलिवलित का वास्तविक भाव क्या है, यह नहीं कहा जा सकता; परंतु संभाव्य अर्थ यही जान पड़ता है कि वह स्थान क्रीड़ा के लिये बहुत अच्छा रहा होगा। दूसरी, और बड़े ही महत्त्व की, बात यह है कि कवींद्राचार्य ने सब वेद, वेदांग और काव्यशास्त्र पढ़ने पर ही संन्यास ग्रहण किया।

उपर्युक्त वर्णनों में कई बातें हैं--(१) कवींद्राचार्य का जन्म-स्थान कौन सा था; (२) वे काशी कब गए; (३) वे जन्म से ऋग्वेदी थे या यजुर्वेदी थे; (४) उन्होंने विद्याभ्यास कहाँ किया और किसके पास किया; (५) इन्होंने संन्यास कब लिया;

१— कवींद्रचंद्रोदय।

२—आठवीं संख्या के पद्य में यह कहा है कि 'आचार्य' नामक पदवी सहित 'विद्यानिधान' पदवी यतियों और विद्वानों ने दी। परंतु अन्य उल्लेखों से यही जान पड़ता है कि 'आचार्य' पदवी तो लोगों ने पहले ही दी थी। कर-मुक्ति के समय शाहजहाँ बादशाह ने उन्हें 'सर्वविद्यानिधान' पदवी दी।

३—इंडिया आफिस कैटेलाग, भाग ७, नं० ३९४७।

(६) इनका विवाह हुआ था या नहीं ? ये प्रश्न परस्पर संबद्ध हैं और प्रत्येक का परिपूर्णतया पृथक् विचार नहीं हो सकता, फिर भी यथाशक्य हम उनका विचार करेंगे।

उपर्युक्त दोनों वर्णनों में एक बात सामान्य है। वह यह कि कवींद्राचार्य का जन्म गोदावरी के किनारे किसी स्थान में हुआ था। किसी ने 'पुण्यभूमि' को 'पण्यभूमि' लिखा है। परंतु वह वास्तव में 'पुण्यभूमि' ही है। इस संबंध में पहली बात यह स्मरण रखनी चाहिए कि गोदावरी के किनारे के स्थान के 'पण्यभूमि' होने की अपेक्षा 'पुण्यभूमि' होने की ही अधिक संभावना है। दोनों वर्णनों से ऐसा जान पड़ता है कि उसी स्थान पर उन्होंने 'वेदवेदांगकाव्यशास्त्राणि सर्वशः' का अध्ययन किया था। 'पण्यभूमि' रहने पर इसकी संभावना बहुत कम रह जाती है। 'पुण्यभूमि' में विद्वान् ब्राह्मणों के रहने की संभावना बहुधा रहती है। इसलिये यही कहना पड़ता है कि वह स्थान 'पुण्यभूमि' था। ऐसा स्थान नासिक अथवा निधिवास (नेवासें) अथवा प्रतिष्ठान (पैठण) ही हो सकता है।

लोगों ने 'ऋग्वेदीयाभ्यस्ता साङ्गा शाखाश्वलायनी शस्ता' का अर्थ यह किया है कि वे ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। हमारी समझ से यह अर्थ स्पष्ट नहीं है। यदि यह कहें कि आजकल की रीति के अनुसार वे ऋग्वेदी ब्राह्मण के पुत्र थे, तो वह अर्थ अवश्यमेव ठीक होगा, ऐसा नहीं कह सकते। 'कवींद्रकल्पद्रुम' में उन्हें 'ऋग्वेदी वेदवेदी' कहा है। उन्होंने 'ऋग्वेद' का अभ्यास विशेष किया था और उसकी आश्वलायन शाखा पर टीका लिखी थी, इसी लिये लोगों ने उन्हें 'ऋग्वेदी' कहा होगा। आजकल की रीति के अनुसार वे 'ऋग्वेदी' थे या नहीं, यह कह नहीं सकते। 'ऋग्वेद' पढ़ानेवाला गुरु मिलने पर शिष्य 'ऋग्वेद' पढ़ेगा और 'यजुर्वेद' पढ़ानेवाला गुरु मिलने पर 'यजुर्वेद'। इस कारण ब्राह्मणों ने कई बार वेद बदले हैं। बहुतेरे दक्षिणी ब्राह्मण पहले यजुर्वेदी थे, बाद में वे ऋग्वेदी हुए हैं। उत्तर हिंदुस्थान में ऋग्वेदी ब्राह्मण अधिक हैं, यजुर्वेदी कम। इस प्रश्न का विचार एक और दृष्टि से करना आवश्यक है। वह प्रश्न है--कवींद्राचार्य गोदावरी-तीर से बनारस कब गए ?

यह तो स्पष्ट है कि उन्होंने वेद-वेदांग, काव्यशास्त्र तथा भिन्न भिन्न कलाएँ अपने मूल स्थान में ही सीखी थीं। इसका यह मतलब हुआ कि बीस वर्ष की वय के पहले वे काशी नहीं गए। संभव है, इस समय उनकी वय पचीस वर्ष की भी रही हो। इसका अधिक विचार एक दृष्टि से आगे हमने किया है। श्रीकृष्ण उपाध्याय ने जो यह लिखा है कि शैशव-काल में कवींद्राचार्य को विरक्ति हो गई थी उसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। उसका अर्थ एक तो यह हो सकता है कि उनकी रुचि सांसारिक विषयों की ओर बहुत कम थी, पर संन्यास नहीं लिया था। दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि उन्होंने शैशव-काल में ही संन्यास ले लिया था। दूसरे अर्थ की संभावना कम है, क्योंकि शैशव-काल में बहुधा यह ज्ञान नहीं रहता—संसार का स्वरूप बोधगम्य होने में समय लगता है। इसके विपरीत यह संभव है कि बालपन में ही उनका विवाह हो गया हो, क्योंकि उस समय हिंदुस्थान की सभी जातियों में बाल-विवाह-प्रथा प्रचलित थी। दक्षिणी ब्राह्मणों के

बाल-विवाह विद्याभ्यास के आड़े कम आते थे, क्योंकि पत्नी के रजस्वला होने तक उसका बहुतेरा जीवन मायके में ही बीतता था। इस बात की ओर ध्यान दिलाने का एक कारण है। हमारा ऐसा मत है कि कवींद्राचार्य का मूल नाम नारायण था, पिता का नाम गोविंद था, संन्यासाश्रम का नाम 'परमानंद' था और इन्होंने ही 'शिवभारत' नामक शिवाजी का चरित संस्कृत भाषा में लिखा। इसका तथा ऊपर बताए अन्य प्रश्नों का विस्तृत विचार यथास्थान हम करेंगे।

आप विष्णु-भक्त थे, यह निम्नलिखित पद्यांश से स्पष्ट है—

नीचीकृत्य मुकुन्दभक्तिनिचयैः षड्वैष्णवाहंकृतिं....॥१९१॥

दानशक्त्या हरेर्भक्त्या धर्मशक्त्या च केवलम्[1] ॥२०६॥

यह इससे भी स्पष्ट है कि कवींद्राचार्य को विष्णु का अवतार कहा है—

हरिचरणसुभक्तः श्रीकवींद्रो विभाति[2] ॥५१॥

परंतु इसका यह मतलब नहीं है कि उन्हें शंकर-भक्ति से द्रोह था। श्री स्वामि-शिष्यों ने उन्हें 'गिरीश' गोविंद गुणगायक कहा है। इसी अर्थ का बोधक यह पद्य भी है—

गायति गोपीनाथं ध्यायति बुद्ध्यैव धूर्जटिं धीरः।
हरिहरभक्तिजितेन्द्रो जयति कवीन्द्रः कृती काश्याम्[3] ॥ ९५ ॥

ऊपर यह भी दिखा चुके हैं कि किसी किसी ने उन्हें 'शंकर' और 'शिव' कहा है। कवींद्र शंकर के अवतार समझे जाते थे, यह निम्नलिखित पद्यों में भी कहा है—

कृतजगदुपकाराः श्रीमहेशावताराः.... ..[4]॥३५॥
दक्षो नु शङ्कर इतो विदधेऽवतारं
नाम्ना कवीन्द्र इति विश्वजनोपकारं[5] ॥१६१॥

कवींद्र देवी-भक्त भी थे, यह निम्नलिखित पद्यों से स्पष्ट है :—

कामाक्षाप्रथमप्रयाणसमये विद्यानिधानप्रभो-
रिन्द्रत्वं तव मस्तके कृतवती श्रीसाहिजाहामुखात्[6] ॥११८॥
प्रभावतः परं प्रभो सदा शिवाप्रभावतः[7] ॥२९८॥
यावत्कृपापरवशा गिरिराजकन्या
तावत्प्रहासमवदत् श्रितनीपवन्या ॥१३९॥
श्रीमत् पर्वतकन्यकाचरणयोः सोऽयं कवींद्रो रतः ॥५३॥
श्रीमान् कामारिवामास्तुतपदमहिमा पुण्यनामार्यधामा[8] ॥१४२॥

अंतिम उद्धरण तो बिलकुल स्पष्टतया कहता है कि कवींद्र देवी-भक्त थे।

———

१—कवींद्रचंद्रोदय। २—वही। ३—वही। ४—वही, श्रीकृष्ण उपाध्याय। ५—वही। ६—वही, पूर्णानंद ब्रह्मचारी। ७—वही, रघुनाथ भट्ट गुर्जर। ८—वही।

विविध

ऋग्वेद में पंजाबेतर भारत के उल्लेख

कुछ इतिहासकारों का मत है कि ऋग्वेद-काल में आर्य लोग पर्शिया से पंजाब तक ही आए थे। इसी लिये ऋग्वेद में पंजाब तक का उल्लेख मिलता है, भारत के शेष भागों का नहीं। किंतु ऋग्वेद का आलोड़न करने पर उनकी यह धारणा असमीचीन जान पड़ती है।

ऋग्वेद ८।३।२४ में लिखा है—'पाकस्थामानं भोजम्'। इसमें राजा पाकस्थामा का विशेषण भोज बताया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'भोज' का विवरण इस प्रकार है—

एतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्वतां राजानो भौज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते भोजेत्यनेनाभिषिक्तानां च क्षतः।

—अध्याय ३८। खंड ३

(इस दक्षिण दिशा में जो कोई सत्वतों के राजा होते हैं वे भौज्य के लिये अभिषिक्त होते हैं। अतः दक्षिण के इन अभिषिक्त राजाओं को भोज कहना चाहिए।)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पाकस्थामा दक्षिण देश का ही राजा है जो दक्षिण देश पंजाब में नहीं पंजाब के बाहर ही हो सकता है।

ऋग्वेद ८।५।३७ में चेदिनृपति चैद्यकशु के दान का वर्णन है। चेदि देश ग्वालियर राज्य के कर्वर जिले से नर्मदा के तट तक फैला है और वत्स देश तक चला गया है। इस चेदि देश की राजधानी शुक्तिमती (आधुनिक चंदेरी) थी। आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व इसे त्रिपुरी भी कहते थे, जो प्राचीन दानपत्रों एवं कोशों से स्पष्ट है। इसी त्रिपुरी को तेवर भी कहते थे जहाँ पृथ्वीराज चौहान की ननिहाल थी और जो मध्यभारत में जबलपुर के पास नर्मदा से तीन कोस पर है।

ऋग्वेद में ७।१८।६ का 'मत्स्यासः' कुरुक्षेत्र के नैर्ऋत्य में स्थित मत्स्य देश की ओर स्पष्ट इंगित करता है। ऋग्वेद ३।५३।१४ में मगध का उल्लेख कीकट नाम से किया गया है जिसे सब मानते हैं। ऋग्वेद २।१५।५ में नदी का वर्णन है जो राजपूताना से गुजरात सागर तक बहती है और माही के नाम से प्रसिद्ध है। ऋग्वेद २।१५।६ में इंद्र ने सिंधु नदी को उत्तराभिमुख बताया है। यह काली सिंध ग्वालियर राज्य में दक्षिण से उत्तर बहती है। ऋग्वेद ३।२३।४ में दृषद्वती, सरस्वती तथा आपया नदियों और मानुष तीर्थ का वर्णन है जिनका कुरुक्षेत्र में होना पुराणों से सिद्ध है। कुछ लोग दृषद्वती को खग्गर मानते हैं, किंतु खग्गर सरस्वती से उत्तर है और दृषद्वती सरस्वती से दक्षिण। पुराणों में आपया को आपगा कहा गया है। मानुष तीर्थ आपगा से एक कोस पर कुरुक्षेत्र में ही है।

ऋग्वेद ४।३०।१८ में संयुक्त प्रांत की सरयू नदी का उल्लेख है जो बलिया के पास गंगा से मिली है और जिसके तट पर प्रसिद्ध अयोध्या बसी है। ऋग्वेद ५।५३।१७ में यमुना का भी वर्णन है जिसे कुछ योरोपीय तो रावी कहते हैं, किंतु कुछ ऐसे भी हैं जो उसे यमुना ही मानते हैं और यही उचित भी है।

ऋग्वेद ५।८३।८ में पर्जन्य से प्रार्थना की गई है कि आप मेघों को नीचा कर ऐसी वृष्टि करें कि नदियाँ पूर्वाभिमुख हो जायँ। पंजाब में पूर्वाभिमुख नदियों का अभाव है। ऋग्वेद १०।७५।५ में गंगा और यमुना नदियाँ पंजाब की नहीं हैं। ऋग्वेद ७।६६।२ में सरस्वती नदी का समुद्र में गिरना बताया गया है। कुछ योरोपीय विद्वानों ने इसे अवेस्ता की हरह्वैती नदी से मिलाया है, क्योंकि संस्कृत का 'स' फारसी में 'ह' हो जाया करता है[1]। कुछ लोग इसे आरगंदाव से भी जोड़ते हैं जो काबुल नदी की सहायक है और काबुल नदी सिंधु में गिरती है। ऋग्वेद ७।९६।७ में सरस्वती का समुद्र में गिरना बताया गया है किंतु आरगंदाव तो समुद्र में नहीं गिरती। 'वैदिक इंडेक्स' में श्री मैकडानल तथा कीथ महोदय इसे कुरुक्षेत्र की समुद्रगामिनी नदी मानते हैं जो पुराणानुसार लक्षप्रस्रवण से चलकर मार्ग में अनेक स्थानों पर गुप्त और प्रकट होती हुई सौराष्ट्र में सोमनाथ के पास समुद्र में मिलती है।

ऋग्वेद ८।९६।१३ में कृष्ण नामक असुर का अंशुमती नदी में छिपना लिखा है। 'बृहद्देवता' नामक ग्रंथ में लिखा है कि सोम कुरुदेश के सामने अंशुमती नदी में छिपे थे (६।९१८ से ६२५ तक)। यह कुरुदेश संप्रति मेरठ के नाम से अभिहित है जो पंजाब में नहीं, संयुक्त प्रांत में है।

ऋग्वेद ८।२०।२५ तथा १०।७५ में असिक्नी नदी का उल्लेख है। निरुक्त ६।२६ में इसका पानी काला बताया गया है। महर्षि कात्यायन 'वर्णादनुदात्तात्तोपधोत्तोकः' के व्याकरण महाभाष्य (१।१९) में असिक्नी की व्युत्पत्ति 'असित' शब्द से बनाते हैं। असित काल को कहते हैं। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य असिक्नी का जल काला मानते हैं। योरोपीय विद्वान् यवनानियों के आधार पर असिक्नी को चनाब बताते हैं। चनाब श्वेत जल वाली है, काले जल वाली नहीं। ऋग्वेद १०।७५।५ में असिक्नी का प्रयोग यमुना के साथ हुआ है, किंतु यमुना के लिये नहीं। संयुक्तप्रांत के फर्रुखाबाद जिले के कन्नौज के पास काली नामक एक नदी गंगा में गिरती है। असिक्नी यही काली नदी हो सकती है।

ऋग्वेद ४।१।१५ में गोमंत पर्वत का वर्णन है। हरिवंश पुराण में मगधराज जरासंध की पराजय के प्रसंग में इसका वर्णन विस्तार से है। उक्त पुराण के अनुसार

१—इसी सिद्धांत से लोग सिंधु से हिंदु होना बताते हैं। 'हिंदु' ही 'इंदु' से बना है—ऐसा मेरा सुझाव है। चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत का पुराना नाम 'इंदु' ही बताता है। जैसे इंदु से विश्व को शांति और प्रकाश मिलता है वैसे ही उसे इस देश से भी। सिंधु से हिंदु हुआ होता तो सिंधु प्रदेश ही हिंदु प्रदेश होता, समस्त भारत नहीं। वाल्मीकि रामायण में सिंधु नदी को इंदुमती लिखा है और इंदुमती से 'इंडस' और 'इंडिया' का बनाना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

यह दक्षिण में होना चाहिए। यह पर्वत मैसूर राज्यांतर्गत बनवासी गाँव के दक्षिण में कनाडा जिले की पूर्वी सीमा पर सिर्सी कस्बे से तीस मील दूर आग्नेय दिशा में स्थित है और सह्याद्रि पर्वतमाला की एक चोटी है। विशेष विवरण के लिये भारतीय अनुशीलन, भाग २ देखा जा सकता है।

आर्य लोग केवल पंजाब में ही परिमित नहीं रहे। वे समुद्र तक गए थे। ऋग्वेद १०।१३७।२ में पूर्व समुद्र का वर्णन है और ऋग्वेद ९।८०।१ तथा ४।४।८ में चार समुद्रों का जो पृथ्वी के चारों ओर विद्यमान हैं।

संक्षेप में उपर्युक्त प्रमाणों से यह भली भाँति स्पष्ट है कि ऋग्वेद काल में आर्य लोग भारत में केवल पंजाब में ही नहीं थे। वे शेष भारत के प्रदेशों से भी परिचित थे।

—गिरीशचंद्र अवस्थी।

रंगवल्ली की चर्चा

[पत्रिका के गत अंक (वर्ष ५३, अंक १) में श्री परशुराम कृष्ण गोडे, एम० ए० का निबंध 'रंगवल्ली कला का इतिहास' प्रकाशित हुआ है। उसी संबंध में प्रोफेसर श्री बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, प्राध्यापक, संस्कृत-विभाग, आर्ट्स कालिज, काशी-हिंदू विश्वविद्यालय, ने कुछ विशिष्ट सूचनाएँ भेजी हैं जो इस अंक में प्रकाशित की जा रही हैं।

—संपादक।]

उक्त निबंध के पृष्ठ १३ तथा १५ पर अर्हद्दास कृत मुनिसुव्रत काव्य से एक उद्धरण दिया गया है जिसमें 'रंगालयः' का प्रयोग हुआ है। यह 'रंगालयः' 'रंगालि' का बहुवचन प्रतीत होता है।

'ऐपन' हमारे यहाँ मंगल के अवसर पर चौक पूरने के समय विशेषतः प्रयुक्त होता है। यह दो प्रकार का होता है—(१) सूखा और (२) गीला (पानी मिला हुआ)। भूमि को गोबर से लीपकर कभी कभी सूखे आटे से या चावल के पिसे हुए चूर्ण से उस पर नाना प्रकार की सुंदर आकृतियाँ बनाई जाती हैं। यह है सोमेश्वर का 'धूलिचित्र'। कभी कभी आटे को पानी में घोलकर उसका पतला घोल बना लेते हैं और और इससे चित्र बनाते हैं। यह है सोमेश्वर का 'रसचित्र'। इधर काशी मंडल में स्त्रियाँ कार्तिक के महीने में 'पिंड़िया' का व्रत रखती हैं। इस व्रत का उद्यापन एक मास के बाद होता है। उस समय स्त्रियाँ, विशेषतः कुमारी कन्या, चावल के चूर्ण का घोल बनाती हैं। पहले दीवार को हरी पत्ती के रस से लीप देती हैं। तत्पश्चात् उसके सूख जाने पर उक्त घोल से नाना प्रकार के चित्र (सुग्गा, कबूतर आदि पक्षियों के तथा साधारण परिचित जानवरों के चित्र) बनाती हैं और फिर उन्हें नाना प्रकार के रंगों से रँग देती हैं। यह भी रंगवल्ली का ही एक प्रकार है।

'पत्रिका' के प्रथम अंक में 'रंगवल्लीकला का इतिहास' बड़ा ही उपादेय, रोचक तथा प्रामाणिक दिया गया है। इसके लिये इसके विद्वान् लेखक हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

—बलदेव उपाध्याय।

समीक्षा

महाकवि चंद अने पृथ्वीराजरासो—लेखक गोवर्धन शर्मा; प्रकाशक सी० शांतिलाल नी कंपनी, प्रिंसेस स्ट्रीट, बंबई २; प्रथम संस्करण; मूल्य ५) ।

गुजराती के इस ग्रंथ में 'पृथ्वीराजरासो' के संबंध में पुरानी चारण-परंपरा की सत्यता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। लेखक ने अपने पक्ष की नई पुरानी सभी सामग्री इस ग्रंथ में एकत्र कर दी है। ग्रंथ दो खंडों में विभक्त किया गया है। पहले खंड में 'पृथ्वीराजरासो' संबंधी सभी प्रमाणों पर विचार किया गया है; और दूसरे खंड में महाकवि चंद की जीवनी तथा उनके काव्य का नमूना उपस्थित किया गया है। ग्रंथकार ने स्वपक्ष का निवेदन अच्छे ढंग से किया है।

इस पुस्तक में काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित 'पृथ्वीराजरासो' की संवत् १७३२ की प्रति का उल्लेख हुआ है। इस संबंध में यहाँ अधिक न कहकर इतना ही सूचित कर दिया जाता है कि उक्त प्रति संवत् १९३२ की है।

पुस्तक संग्रह करने योग्य है। इससे अन्वेषण के कार्य में कुछ न कुछ सहायता मिलेगी ही।

—बटेकृष्ण ।

ब्रज की लोक-कहानियाँ—संपादक श्री सत्येंद्र, एम० ए०; प्रकाशक ब्रज-साहित्य-मंडल, मथुरा; मूल्य ३।) ।

सुविधापूर्वक जीवन-यापन की अद्यतन कठिनाई और जटिलता ने भी हमें अपनी संस्कृति से काफ़ी दूर कर दिया है। जीवन की व्यस्तता—कभी आवश्यक और कभी अनावश्यक—ने साहित्य, कला, दर्शन, धर्म आदि संस्कृति के आधार-भूत तत्त्वों के प्रति हमारी आँखें बंद कर दी हैं। यही कारण है कि हमारी संस्कृति के विकास का क्रम रुका-सा है। लोक-साहित्य भी संस्कृति का एक ऐसा तत्त्व है जिसमें उस (संस्कृति) की परंपरा संभवतः विशुद्ध रूप में रक्षित है। इसलिये लोक-साहित्य का अध्ययन साहित्य के साथ ही सांस्कृतिक परंपरा की अभिज्ञा के लिये आवश्यक है। हर्ष का विषय है कि मथुरा के 'ब्रज-साहित्य-मंडल' ने इसका अध्ययन तथा इसकी सामग्री प्रस्तुत करने की ओर ध्यान दिया है, 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' जिसका परिणाम है।

इस पुस्तक द्वारा अपनी संस्कृति की अभिज्ञा के साथ ही भाषा की मीमांसा में भी बहुत सहायता मिलती है। सुरक्षित साहित्यारूढ़ ब्रज की भाषा, जो आज हमें प्राप्त है, और ब्रज की जनता में वर्तमान युग में प्रचलित ब्रज बोली में क्या साम्य और वैषम्य है इसका अध्ययन इस पुस्तक के सामने आ जाने से सुविधा तथा प्रामाणिकता पूर्वक हो

सकता है। पुस्तक में व्रज-मंडल के एक ही स्थान की कहानियाँ संगृहीत नहीं हैं, वरन् अनेक स्थानों की कहानियाँ इसमें संकलित हैं। इससे वर्तमानकालीन व्रज बोली के भिन्न भिन्न रूपों का अध्ययन भी सुगम हो गया है। अभिप्राय यह कि उक्त पुस्तक साहित्यारूढ़ व्रज भाषा तथा ठेठ व्रज बोली की तुलनात्मक मीमांसा में निस्संदेह ही सहायक होगी।

पुस्तक की सभी कहानियाँ आठ खंडों में विभाजित हैं, जिनकी संख्या इकतालीस है। इन कहानियों के विषय विभिन्न हैं; जैसे—देव-कहानियाँ, चमत्कारों की कहानियाँ, कौशल की कहानी, जान-जोखिम की कहानियाँ, व्रत की कहानियाँ, पशु-पक्षियों की कहानियाँ, बुझौअल की कहानियाँ तथा जीवट की कहानियाँ। इस प्रकार कहानी के प्रायः सभी विषयों से संबद्ध कहानियाँ पुस्तक में संकलित हैं। पुस्तक के परिशिष्ट में शब्दकोश भी रखा गया है।

—शिवनाथ।

१८५७ का भारतीय स्वातंत्र्य-समर—लेखक श्री विनायक दामोदर सावरकर; अनुवादक श्री गणेश रघुनाथ वैशंपायन; प्रकाशक निर्मल साहित्य प्रकाशन, पूना २; प्रथम संस्करण; मूल्य १२॥)

यह सन् १८५७ ई० के सैनिक विद्रोह का इतिहास है। इसे कोरा इतिहास ही नहीं समझना चाहिए। यह इतिहास काव्य की शैली में लिखा गया है जो इसके खंड-विभाजन से ही प्रकट है। जब हम देश की उन परिस्थितियों का विचार करते हैं जिनमें यह ग्रंथ प्रस्तुत किया गया है, तब हमें ज्ञात होता है कि भारत उस समय अवश्य ज्वालामुखी हो रहा था। राष्ट्रीयता की आग देश के अंतःकरण में व्याप्त हो चुकी थी। केवल भड़कने भर की देर थी। इस पुस्तक को पढ़कर मुख से यही निकलता है कि यदि किसी प्रकार यह पोथी परतंत्र भारत के हाथों में पड़ जाती तो देश में वैसी ही क्रांति होती जैसी किसी समय फ्रांस और योरप के अन्य देशों में हुई। भारतभूमि की परतंत्रता का पाप अँगरेजों के रक्त से धुल जाता। इस पुस्तक को पढ़कर कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी संप्रदाय का हो जिसकी धमनियों में जरा भी भारतीय रक्त होगा युद्धोत्साह से परिपूर्ण हुए बिना नहीं रह सकता।

प्रस्तुत ग्रंथ अँगरेजी का हिंदी अनुवाद है और अनुवादक ने अपनी कृति में मूल लेखक की भावना सुरक्षित रखने का पूर्ण एवं स्तुत्य प्रयास किया है। भाषा की दृष्टि से भी अनुवाद सुव्यवस्थित एवं बोधगम्य है।

—वटेकृष्ण।

हिंदी का सरल भाषाविज्ञान

ले० श्री गोपाललाल खन्ना। भाषाशास्त्र के इस ग्रंथ में भाषा-संबंधी सभी पहलुओं की विस्तृत विवेचना की गई है और साहित्यिक हिंदी की उपभाषाओं, भारतीय लिपियों का विकास तथा भाषा संबंधी प्रागैतिहासिक खोज की पूर्ण मीमांसा है। भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिये ग्रंथ बहुत उपयोगी है। पृष्ठ-संख्या ३००, मूल्य २)

भाषा-विज्ञान-सार

ले० श्री राममूर्ति मेहरोत्रा। उपर्युक्त ग्रंथ की भाँति इस पुस्तक में भी भाषाशास्त्र का विवेचन है। भाषाशास्त्र के आरंभिक ज्ञान के लिये यह पुस्तक परम उपादेय है। पृष्ठ-संख्या ३००, मूल्य २)

पुरानी हिंदी

ले० स्व० श्री चंद्रधर शर्मा गुलेरी। हिंदी परंपरानुसार किस प्रकार सार्वदेशिक भाषा का स्थान ग्रहण करती हुई आगे बढ़ी इसका बहुत विद्वत्तापूर्ण एवं स्पष्ट वर्णन इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने किया है। प्राचीन भारतीय भाषाओं के प्रवाह-चक्र का विवेचन करते हुए संस्कृत से लेकर उत्तरवर्ती अपभ्रंश तक का शृंखलाबद्ध विवरण देने के अनंतर पुरानी हिंदी की पूरी छानबीन इस ग्रथ में की गई है। इसमें हेमचंद्र, शार्ङ्गधर, मेरुतुंग, सोमप्रभाचार्य आदि के ग्रंथों में उद्धृत पुरानी हिंदी की कविताओं का विशद विवेचन तो है ही, साथ ही लेखक ने स्थान स्थान पर व्रजभाषा आदि प्रांतीय भाषाओं के प्रयोगों के शब्द प्रति शब्द रूपांतर भी बराबर दिए हैं जिससे यह ग्रंथ हिंदी की सार्वदेशिक प्रवृत्ति और प्रकृति का अनुशीलन करने के लिये बड़े काम का हो गया है। अपनी उपादेयता के कारण यह अद्यावधि प्रायः समस्त विद्यालयों में हिंदी की उच्च कक्षाओं में पाठ्य ग्रंथ है। पृष्ठ-संख्या २०० से ऊपर, मूल्य २)

हिंदी कारकों का विकास

ले० श्री शिवनाथ, एम० ए०। हिंदी में भाषाशास्त्र संबंधी यह अपने ढंग का अकेला ग्रंथ है। इसमें हिंदी के कारक-प्रयोगों का विकास संस्कृत, पालि, अपभ्रंश के प्रयोगों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। उक्त सभी भाषाओं तथा हिंदी भाषा के सभी उदाहरण प्रामाणिक ग्रंथों से ही लिए गए हैं। पुस्तक कारक-प्रयोगों का अध्ययन करनेवाले विद्वानों तथा विद्यार्थियों के लिये अत्यंत उपयोगी है। मूल्य २॥)

रामचरितमानस

(संपादक—स्वर्गीय श्री शंभुनारायण चौबे)

गोस्वामी तुलसीदास जी के मानस के अब तक शताधिक विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं, किंतु विद्वन्मंडली और भक्त-संप्रदाय की मानस के शुद्धतम पाठ की आकांक्षापूर्ति उनमें से किसी से भी पूर्ण रूप से अब तक नहीं हो पाई है। इसी कमी को पूरा करने के उद्देश्य से सभा ने स्वर्गीय चौबे जी से, जिन्होंने मानस के ही निमित्त अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया, आग्रह करके मानस का यह संस्करण प्रस्तुत कराया है। चौबे जी ने इसके संपादन और पाठ-निर्धारण में भागवतदास, वि० सं० १७२१, सं० १७६२, छक्कनलाल, रघुनाथदास, बंदन पाठक, काशिराज, कोदोराम, श्रावणकुंज, राजापुर आदि की प्रतियों एवं मानस के लब्धप्रतिष्ठ ज्ञाताओं और साधकों से सहायता लेकर अत्यंत सावधानता से गोस्वामी जी की मौलिक वाणी निर्दिष्ट की है। मानस का यह संस्करण अब तक प्रकाशित अन्य समस्त संस्करणों से शुद्ध और श्रेष्ठ है। इसमें लेशमात्र संशय नहीं। मानस-प्रेमियों एवं मानस-संबंधी शोधकार्य करनेवालों के लिये यह ग्रंथ परमोपयोगी है। इसका मूल्य ७) है।

सूरसागर (सस्ता संस्करण)

भाग १

(संपादक—श्री नंददुलारे वाजपेयी)

गोलोकवासी स्वर्गीय जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' द्वारा संगृहीत और प्रदत्त सामग्री के आधार पर लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की एक समिति के तत्त्वावधान में इस ग्रंथ का संपादन अत्यंत कठोर परिश्रम और द्रव्य व्यय करके कराया गया है। सूरसागर का जो बृहत् संस्करण प्रकाशित हो रहा था वह वर्तमान स्थिति में अत्यधिक व्ययसाध्य होने के कारण स्थगित कर देना पड़ा। इस सस्ते संस्करण में पाठ-भेद के अतिरिक्त सभी विशेषताएँ अक्षुण्ण रखी गई हैं। पाठ की शुद्धता और प्रामाणिकता की दृष्टि से यह संस्करण अब तक छपे समस्त संस्करणों में श्रेष्ठ है। इस पहले भाग में २३६७ पद हैं जिसमें दशम स्कंध के अंतर्गत 'दान-लीला' तक का प्रसंग आया है। दूसरा भाग भी प्रायः आधा छप चुका है और शेषांश छप रहा है जो शीघ्र पूरा होगा। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण का जैसा विशद और पूर्ण गान महात्मा सूरदास जी ने किया है वैसा अन्य किसी से भी अब तक नहीं बन पड़ा। भक्ति, साहित्य और संगीत की इस त्रिवेणी में अवगाहन करना प्रत्येक हिंदी-प्रेमी का कर्तव्य है। इस भाग का दाम १०) है।

मुद्रक—बालकृष्ण शास्त्री; ज्योतिष-प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज; बनारस। २०३-४६